

ध्वनि-सिद्धान्त और व्यंजनावृत्ति : विवेचन :

[आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध ग्रन्थ का अंश]

लेखक

डा० गयाप्रसाद उपाध्याय शास्त्री,
एम० ए०, पी-एच० डी०

रीडर अर्थ्स, हिन्दी विभाग
एल० आर० के० कॉलेज, फिरोजाबाद, आगरा

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक सदन
मोती कटरा, आगरा-३

○ प्रकाशक
प्रतापचंद जैसवाल

⑥ संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, भागरा-३

○ प्रथम संस्करण
१००० प्रतिष्ठा, १९७०

○ अधिष्ठाता
पुस्तक वित्री केन्द्र,
६/१४६ मोतीकटरा-३

○ मुद्रक
प० पूसगहर पारागरे
पारागरे प्रिंटिंग प्रेस बुनियागाव भागरा-३
०६४१ २००१

॥ समर्पण ॥

प्रसूया जननी तथा पिता रेवतीराम ।
सुकृति देखि निज पुत्र की हो प्रफुल्ल सुर-धाम ॥

—गयाप्रसाद

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

१—रोतिकास्त के पूर्व ध्वनि का विकास

पृष्ठ

ध्वनि का अर्थ, आदवचन के पूर्व ध्वनि की स्थिति, भामह के काव्यालंकार में ध्वनि सकेत, दण्डी का काव्यादग, वामन का ध्वनि विकास में योगदान, उद्भट और भवगमन व्यापार, रुद्रट के काव्यालंकार में ध्वनि, अग्निपुराण और ध्वनि, भानुदवचन और उनका, ध्वनि सिद्धांत, भ्रावाय राजशेखर और उनका काकुत्स्थ । १-३०

२—ध्वनि सिद्धांत का विरोध

ध्वन्यालोक की चन्द्रिका टीका, भ्राचार्य प्रतिहारेन्द्र राज भट्टनायक, धनजय और धनिक का ध्वनि विरोध, कुतव की ध्वनि उपेक्षा, महिम भट्ट का ध्वनि विरोध । ३०-४२

३—ध्वनि समयन और प्रतिष्ठा

भ्रावाय अभिनव और ध्वनि, रुद्रक द्वारा महिम भट्ट का उत्तर, मम्मट द्वारा ध्वनि शास्त्र निर्माण, विश्वनाथ का ध्वनि प्रतिष्ठा में योग, ध्वनि सिद्धांत का विकास और पण्डितराज । ४२-५६

द्वितीय अध्याय

१—ध्वनि सिद्धान्त-निर्ूपण

५७-११६

ध्वनि के विभिन्न अर्थ, वाक्याय और प्रतीयमान की भिन्नता, अभिधावादी भीमासर्वों के सम्प्रदाय, व्यजना से दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था, अभिधा और व्यजना का अन्तर ।

लक्षणा और व्यजना का अन्तर, मुकुलभट्ट का ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न, अनुमान और व्यजना, अण्णद्विवादी और व्यजना, व्याकरण शास्त्र अर्थापत्ति और व्यजना, शाब्दी व्यजना और प्रकरण, आर्षीव्यजना, वाच्य समवा व्यजना, लक्ष्य समवा व्यजना, व्यंग्य समवा व्यजना, अर्थ व्यङ्ग्यता के हेतु, व्यङ्ग्य और उसके भेद, शाब्दी व्यजना और त्रिविध व्यङ्ग्यार्थ, ध्वनिवाक्य के भेद श्लेष और शब्द शक्तिमूल ध्वनि का अन्तर पृ० ११० तक, मम्मट और शब्द शक्तिमूल वस्तु ध्वनि, पण्डितराज और शब्द शक्तिमूल वस्तुध्वनि अन्वयदीप्ति और शब्द शक्तिमूल वस्तु ध्वनि । ५७-११६

तृतीय अध्याय

ध्वनि का व्यावहारिक परिवन्ध

१—व्यजना वृत्ति

११७-१४४

२—ध्वनि काव्य

१४५-१६२

अविवक्षित वाच्य ध्वनि, विवक्षितवाच्य ध्वनि, असलस्यग्रय व्यङ्ग्य, सलस्यक्रम व्यङ्ग्य, त्रिविध अर्थ की मायता, सलस्यग्रम के भेद और उदाहरण ।

३—गुणीभूत व्यङ्ग्य

१६३-१८०

अगूढ और उदाहरण, अपराग विवेचन, वाच्य सिद्धयग अस्फुट, सद्व्यग प्रापाय, तुल्यप्रापाय, वाक्वाशिप्त और अनुदर ।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

१—रीतिकाल के पूर्व ध्वनि का विकास

पृष्ठ

ध्वनि का अग्र, आन्वयन के पूर्व ध्वनि की स्थिति, भाग्य के काव्यालकार में ध्वनि सकेत, दण्डी का काव्यादर्श, वामन का ध्वनि विकास में योगदान, उदभट और ध्रुवगमन व्यापार, रूद्रट के काव्यालकार में ध्वनि, अग्निपुराण और ध्वनि, आन्वयन और उनका, ध्वनि सिद्धान्त, आचार्य राजशेखर और उनका काव्यग्रन्थ । १-३०

२—ध्वनि-सिद्धांत का विरोध

ध्वन्यालोक की चट्टिका टीका, आचार्य प्रतिहारेन्द्र राज भट्टनायक, धनञ्जय और धनिक का ध्वनि विरोध, कुतक की ध्वनि उपेक्षा, महिम भट्ट का ध्वनि विरोध । ३०-४२

३—ध्वनि-समयन और प्रतिष्ठा

आचार्य अभिनव और ध्वनि, रुम्यक द्वारा महिम भट्ट का उत्तर, भम्मट द्वारा ध्वनि शास्त्र निर्माण, विश्वनाथ का ध्वनि प्रतिष्ठा में योग, ध्वनि सिद्धांत का विकास और पण्डितराज । ४२-५६

द्वितीय अध्याय

१—ध्वनि सिद्धांत निरूपण

५७-११६

ध्वनि के विभिन्न अर्थ, वाच्यार्थ और प्रतीयमान की भिन्नता, अभिधावादी भीमार्मकों के सम्प्रदाय, व्यञ्जना से दोषों की निवृत्तान्त्य व्यवस्था, अभिधा और व्यञ्जना का अन्तर ।

लक्षण और व्यञ्जना का अन्तर, मुकुलभट्ट का ध्वनि का लक्षणार्थ अन्तर्भाव करने का प्रयत्न, अनुमान और व्यञ्जना, अक्षरबुद्धिवादी और व्यञ्जना, व्याकरण शास्त्र अर्थपक्ष और व्यञ्जना, शाब्दी व्यञ्जना और प्रकरण, आर्थव्यञ्जना, वाच्य समवा व्यञ्जना, लक्ष्य समवा व्यञ्जना, व्यङ्ग्य समवा व्यञ्जना, अर्थ व्यञ्जकता के हेतु व्यङ्ग्यार्थ और उसके भेद, शाब्दी व्यञ्जना और त्रिविध व्यङ्ग्यार्थ, ध्वनिवाच्य के भेद श्लेष और वाच्य शक्तिमूल ध्वनि का अन्तर पृ० ११० तक, भम्मट और शब्द शक्तिमूल वस्तु ध्वनि, पण्डितराज और शब्द शक्तिमूल वस्तुध्वनि अन्वयनीक्षित और शब्द शक्तिमूल वस्तु ध्वनि ।

५७-११६

तृतीय अध्याय

ध्वनि का व्यावहारिक परिचय

१—व्यञ्जना वृत्ति

११७-१४४

२—ध्वनि काव्य

१४५-१६२

अविवाहित वाच्य ध्वनि, विवक्षितवाच्य ध्वनि, असलक्ष्यग्रन्थ व्यङ्ग्य, सलक्ष्य

ग्रन्थ व्यङ्ग्य, त्रिविध अर्थ की भावता, सलक्ष्यग्रन्थ के भेद और उदाहरण ।

३—गुणोन्मूल व्यङ्ग्य

१६३-१८०

अगुण और उदाहरण, अपरांग विवचन, वाच्य मिश्रण अस्पृष्ट, सदिग्ध प्रापाय, तुल्यप्रापाय, वाक्यानिष्ट और अगुण ।

लेखक की ओर से

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे शोध प्रबन्ध 'ध्वनि सिद्धांत तथा हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन प्राचायों में समाविष्ट ध्वनि के सिद्धांत-पक्ष का सग्रह है। उल्लिखित शोध प्रबन्ध भागरा विश्वविद्यालय की ओर से सन् १९६४ में पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था।

स्वीकृत शोध प्रबन्ध के दो भाग थे ध्वनि का सिद्धांत पक्ष और रीतिकालीन प्राचायों द्वारा विवेचित ध्वनि एवं उनके उच्चारणों की समीक्षा। जिन रीतिकालीन प्राचायों के रीति ग्रन्थों के ध्वनि भाग की विवेचना शोध प्रबन्ध का मुख्य विषय थी उनके नाम ये हैं (१) चित्तामणि, (२) कुलपति (३) देव (४) कुमारमणि, (५) श्रीपति, (६) सोमनाथ, (७) मित्तारीदास, (८) हरिचरणदास, (९) रतन कवि, (१०) जनराज, (११) जगतसिंह, (१२) प्रतापसिंह। इनके अतिरिक्त श्रीधरानन्द, घनीराम और सखिराम का संक्षिप्त उल्लेख परिशिष्ट में दिया गया है। इनमें प्राचाय हरिचरणदास तो ऐसे प्राचाय हैं जिनके नाम और कृतियों को हिन्दी संसार पूर्णरूपेण मूला चुका था।

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध का कलबर घड़ा और रीतिकालीन प्राचायों के मालोचना सिद्धांतों के प्रति हिन्दी जगत की उपेक्षा होने के कारण प्रकाशक ने सिद्धांत पक्ष को ही प्रकाशित करने का निणय किया। सम्पूर्ण प्रबन्ध के प्रकाशित होने की सम्भावना अभी भी भविष्य का प्रसंग है।

'ध्वनि सिद्धांत' सहेतु मालोचना शास्त्र का अत्यन्त प्रौढ़ सिद्धांत है। अपने उद्भव के दिन से आज तक सचचाही काव्य सिद्धांत बना हुआ है। समय समय पर आविर्भूत होने वाले रस सिद्धांत, मलकार सिद्धांत रीति सिद्धांत मन्त्रोक्ति सिद्धांत और शौचित्य सिद्धांत की इसने इस प्रकार आरममात्र कर लिया कि सभी सिद्धांतों का एक काव्य सिद्धांत में समावय हो गया और उनकी अपनी अपनी विशेषताएँ और काव्य स्थितियाँ भी यथावत् बनीं रहीं। जिसका भूत इतना महान् है उसका भविष्य भी कम उज्ज्वल नहीं है। बहुत सम्भव है, भविष्य में ग्रन्थ भाषाओं में भी इस सिद्धांत की पहुँच हो जाय। जो काव्य सिद्धांत इतना महान् और प्रौढ़ है वह तो हिन्दी द्वारा स्वीकरणीय है ही।

फलतः प्रकाशक भाई प्रतापचन्द जसवाल ने प्रबन्ध में विबीण इसके सिद्धान्त पक्ष का सग्रह प्रकाशित करने का प्रयत्न उचित ही है।

शोध प्रबन्ध की रूप रेखा विश्वविद्यालय भेजने के पूर्व ही इस विषय के सिद्धांत पक्ष से सम्बद्ध एक शोध प्रबन्ध 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत' लेखक डा० मोलासकर यास, एम० ए०, पी एच० डी०, डी० लिट प्रवक्ता वाशी हिन्दू विश्वविद्यालय, छप चुका था। किंतु दोनों प्रबन्धों में निम्न मौलिक विवेचनाएँ हैं

१—उपयुक्त प्रबन्ध में 'ध्वनि सिद्धांत' के अन्तर्गत सादशतया का ही विवेचन है। वही प्रबन्ध का प्रमुख विषय है। इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में ध्वनि का पूर्व रीतिकालीन विकास भी

सन्निविष्ट है जिससे 'ध्वनि' के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश पड़ता है। यह 'ध्वनि विकास क्रम भी चार भागों में विभक्त है। १—पूर्व ध्वनिकात् के अलंकार विवेचन में व्याघ्र की स्थिति, २—ध्वनि सिद्धांत का स्वरूप और उसके भेद, ३—उसका विराट और ४—ध्वनि का समयन और उसकी प्रतिष्ठा। यह इस सग्रह की उपयुक्त प्रबंध से पहली विवेचता है।

२—डा० व्यास के शोध प्रबंध में यद्यपि व्यजना का विवेचन प्रमुख है, परन्तु उसमें अथ शब्द शक्तियों का विवेचन भी स्वतंत्र रूप से हुआ है। इसके दूसरी ओर, इस ग्रंथ में ध्वन्यालोक की भाँति केवल व्यजना शक्ति का ही निरूपण है, अथ शब्द शक्तियों का नामोल्लेख तो प्रासंगिक ही है।

३—दोनों प्रबंधों में प्रतिपादन की थोड़ी समानता होने पर भी कई सद्धांतिक विभिन्नताएँ हैं। संक्षेप में वे ये हैं— उपयुक्त प्रबंध में मम्मट के अनुसार लक्षणा के पदगत भेद ही स्वीकृत हैं, परन्तु इस ग्रंथ में विश्वनाथ की भाँति पद्यगत और काव्यगत दोनों भेद। डा० व्यास ने अभिनव और मम्मट के अनुसार अभिधामूला शब्दी व्यजना के अप्राकरणीक अथ की प्रतीति व्यजना से मानी है लेकिन इसमें दोनों अर्थों की प्रतीति श्लेष की भाँति दो अभिधाओं से मानी गई है। अर्थात् अभिधामूला शब्दी व्यजना प्रसंग में होने वाली अलंकार प्रतिभा व्यजना से होती है। यह भावना ध्यानद वधन की है। इस प्रबंध में शब्द शक्तिमूल वस्तुध्वनि को ध्वन्यालोक वार के अनुसार मान्यता दी गई है जबकि उसमें मम्मट के मत की समर्थन मिला है। 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत में काव्य विभाजन मम्मट के आधार पर किया गया है जबकि इस ग्रंथ में उस गंगाधरकार जगन्नाथ के आधार पर। इनके अतिरिक्त दो एक स्थल और हैं जहाँ दोनों प्रबंधों में सद्धांतिक मतभेद उपलब्ध होगा। ये सद्धांतिक मतभेद दोनों ग्रंथों की मौलिक भिन्नता है।

जसा कि ऊपर लिखा जा चुका है यह ग्रंथ उल्लिखित शोध प्रबंध के सद्धांतिक पक्ष का सग्रह है। फिर भी सद्धांतिक पक्ष व्यावहारिक पक्ष के अभाव में अधिक लाभकर सिद्ध न होता इसलिए इसमें 'ध्वनि' के व्यावहारिक पक्ष भी संक्षिप्त कर जोड़ दिया गया है। इस प्रकार पूरा ग्रंथ तीन अध्यायों में विभक्त है (१) ध्वनि का ऐतिहासिक विकास क्रम (२) ध्वनि सिद्धांत और उसके भेद (३) ध्वनि का व्यावहारिक परिचय। ध्वनि के व्यावहारिक परिचय के पुन तीन भाग कर दिये गये हैं व्यजना वृत्ति और उसके उदाहरण (२) ध्वनि-काव्य और उसके भेदोपभेद सोदाहरण तथा गुणीभूत व्यंग्य का सोदाहरण विवेचन। आवश्यक उदाहरणों का सग्रह ऐतिहासिक के आधारों से किया गया है। उदाहरण चयन मधुकरी वृत्ति से ओचित्य और सगति के आधार पर हुआ है।

विषय की गम्भीरता के कारण प्रबंध की प्रस्तुत करने में अधिक समय लगा। संस्कृत काव्यशास्त्र के मौलिक ग्रंथों से झूक झूक कर उनके मर्म तक पहुँचने का कार्य, समय की अपेक्षा रखता है। संस्कृत के अधिकारी विद्वानों में एक प्रदुभूत प्रवृत्ति के दसन होते हैं। वे अपने ही अन्तेवासियों को अपना ज्ञान-कोष सुलभ करते हैं, अर्थों की गान सागर की गहराई नापने का इच्छुक मानकर शास्त्राय को सलकार देते हैं और फिर 'मधवामूल विद्वाना टीका' जो सूत्रपात होता है उसमें खो जाने के भय से सरल विज्ञानों की मांगना पड़ता है। लेखक को काशी, खुरजा और जयपुर में ऐसे ही भवसर प्राप्ति हैं। इसलिए ग्रंथ स्थलों पर अकेले ही जूमना पड़ा है।

‘वनेश फलेन पुनगता विषते’ वाले कथन पर ध्यान दकर आज इस बात की प्रसंगता है कि भक्ततोगत्वा विषय स सम्बद्ध कई श्रियाँ मुलकी और ‘ध्वनि सिद्धांत’ की ग्रन्थ परम्परा पुन एक नवीन शास्त्रीय मोड पर उपस्थित हुमा है ।

हमारा विश्वास है कि इस रूप में यह ग्रन्थ हिंदी के उन पाठकों को जो संस्कृत के वाचशास्त्र सागर के भूतल से रत्न पाते के इच्छु हैं बहुत दूर तक सहायक सिद्ध होगा । संस्कृत काव्य शास्त्र की रत्नाकरता हमारी शपथों से सिद्ध करने का विषय नहीं है ।

ग्रन्थ के सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे अपनी विप्रतिपत्तियों से अवश्य सूचित करें । यदि यह ग्रन्थ किसी की जिज्ञासा को गात कर सका, किसी की जिज्ञासा में वृद्धि कर सका, किसी की विप्रतिपत्ति जाग्रत कर सका तो लेखक अपने धर्म को सफल समझेगा ।

ग्रन्थ का विषय गम्भीर है और सामग्री कष्ट लक्ष्य । इसमें अनेक व्यक्तियों ने अपने रूप में सहायता पहुँचाई है । लेखक उन सभी का हृदय से आभारी है । विशेषता श्रीकृष्ण किशोर द्विवेदी टीकमगढ़, स्वर्गीय ब्रजकिशोर मिश्र लखनऊ श्री ब्रजमोहन जाबलिया, सरस्वती भवन, पुस्तकालय उदयपुर, श्री कृष्णचन्द्र शास्त्री, हिंदी विद्यापीठ, उदयपुर, डा० मुनिकांत सागर, उदयपुर, डा० मायाकर याज्ञिक, लखनऊ, श्री सुधाकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, आदि के सहज और स्नेह सित्त सहयोग के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने के पश्चात् भी हृदय उनके आभार से उन्मत्त नहीं होता ।

डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ जिस विश्वास और धन के साथ ग्रन्थ का पथ प्रदर्शन किया है उसको प्रकट करने में शर्म मोछे पड़ते हैं । डाक्टर साहब के सौहार्द एवं सौजन्य के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापन करने में असमर्थ हूँ । परंतु इसके अतिरिक्त मुझ अकिंचन के पास कुछ है भी तो नहीं ।

इसको प्रस्तुत करने में मेरे मित्रों का भी कम सहयोग नहीं है । कुछ के मोठे सट्टे उपासक काम करने में मुझे सतत प्रणोदन करते रहे हैं । उन सभी के नामों का मानसिक स्मरण कर उनके प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ ।

इस ग्रन्थ को इस रूप में प्रकाशित करने का श्रेय भाई प्रतापचन्द्र अग्रवाल को है । उनके सहयोग के बिना यह सिद्धांत पक्ष सग्रह भी वदचित सुधीर पाठकों के कर बमला न न पहुँच पाता, भूत उनके प्रति आभार प्रदर्शन भरा कर्तव्य है ।

—मयाप्रसाद उपाध्याय

प्रथम अध्याय

रीतिकाल के पूर्व ध्वनि का क्रमिक विकास

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति समाभ्नातपूर्व — ध्वयालोक

ध्वनि के विभिन्न अर्थ—‘ध्वनि’ का साधारण अर्थ शब्द अथवा आवाज है। सत्तार में यह संयोग और विभाग दो कार्यों से उत्पन्न होकर कर्णेंद्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। भर्तृहरि ने इस प्रकार के शब्द को शब्दज माना है।^१ शब्दज शब्द का प्रत्यक्ष अनुभव घटानुरणन में होता है। घटे के बज चुबने के पश्चात् भी उसमें एक प्रकार की झकार होती रहती है। यही शब्दज शब्द का स्वरूप होता है। इसी अनुरणन की भांति ही महदय को व्याप्य के पश्चात् व्यंग्याय की प्रतीति होती है इसलिये व्यंग्याय को भी ‘ध्वनि’ नाम से अभिहित किया गया है।

लौकिक ‘ध्वनि’ दो प्रकार की होती है—प्राकृत और वैकुण्ठ। प्राकृत ध्वनि को ही अक्षर कहते हैं। यही प्राकृत ध्वनि भिन्न व्यक्तियों, शुक आदि पक्षियों द्वारा अस्वाभाविक रूप में उच्चरित होकर भिन्न भिन्न प्रकार की जान पड़ती है। यही वदत ध्वनि है। वदत ध्वनि के भेद होते हुये भी प्राकृत ध्वनियों में भेद नहीं होता है। जिस प्रकार अनेक वैकुण्ठ ध्वनियों से एक ही प्राकृत ध्वनि का बोध होता है उसी प्रकार वयाकरणों के अनुसार प्राकृत ध्वनियों से एक एक अलग स्फोट का बोध होता है। ये आर्यशुद्धिनिर्वाह प्राकृत ध्वनिया स्फोट की व्यञ्जक मानी जाती हैं। इस आधार पर भी काव्यशास्त्री व्यंग्याय के व्यञ्जक शब्द और अर्थ को ‘ध्वनि’ नाम देते हैं।

कभी कभी एक ही शब्द दो व्यक्तियों द्वारा उच्चरित होता है। यही शब्द शुक, सारिका पक्षियों के द्वारा भी उच्चरित होता है। इन सभी दशावयों में शब्द की प्राकृत ध्वनिया अपरिवर्तित रहती हैं। दोनों व्यक्तियों में से एक तुलाना कर बोलता है और दूसरा बहुत शीघ्र बोलता है। इस लिये तुलाने वाला व्यक्ति शब्द का उच्चारण देर से करता है और शीघ्र भापी उसी शब्द का उच्चारण शीघ्र करता है। पक्षी उही प्राकृत ध्वनियों का उच्चारण अस्पष्ट रूप से करते हैं। एक शब्द बीमार व्यक्ति बहुत मन्द ध्वनि से उच्चारण करता है। इन स्थितियों में यह भी संभावना है कि वैकुण्ठ ध्वनिया की अस्पष्टता, और मन्द-स्वरता के कारण प्राकृत शब्द का बोध ही न हो। पर तु यदि प्राकृत शब्द का बोध होगा तो पूर्ण और स्फुट बोध होगा।^३ वयाकरण उच्चारण की इस प्रक्रिया को भी ‘ध्वनि’ सत्ता प्रदान करते हैं। इसी आधार पर ध्वनिवादियों द्वारा प्रसिद्ध उच्चारण अभिवेयानि से अधिक अर्थ का अत्यायन कराने वाली वृत्तिको भी ‘ध्वनि’ सत्ता प्रदान की

१ य संयोगवियोगाभ्या करणैरूपजयते ।

स स्फोट शब्दजा शब्दा ध्वनयोऽयं सदाहृता ॥ लोचन, पृ० ५५

२ तेन यजको शब्दार्थवपोह ध्वनिशब्देनोक्ती । - लोचन, पृ० ५५

३ अत्यायसाठि यत्नेन शब्दमुच्चारित मति ।

यदिवानेव शृङ्गाति वण वा सकल स्फुटम् ॥

जाती है ।^१ इस प्रकार ध्वनि के वर्द्ध अथ विय जाते हैं ।

काव्य में व्यंग्याय का स्थान —

जो ध्वयय बुद्धिप्रदेण म अनुस्वानरूप से उत्पन्न होता है वह कविकृत काव्य से ही जाग्रत होता है । यह कवि के मानस की ही तरंग है जो शब्दा के सूत्रों के सहारे पाठक के मानस में झूलती है । 'अपारे काव्यसतारे कबिरेव प्रजापति — कवि ही प्रजापति की भाँति स्वसृष्ट काव्य-विश्व को मनोवर्द्धित रूप देता है । कवि ने भावा और विचारों को सम्प्रेषणीय बनाने में काव्य माध्यम का काम देना है । फलतः वह ध्वयय काव्य के वियास में हा समाहित रहता है । जिस प्रकार किसी मदनविष्णु रमणी के सुन्दर अवयवा ॥ लावण्य पूरता हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार यह व्यंग्य अथ भी काव्य से व्यक्त होना है । परन्तु जिस प्रकार अगनागलावण्य उसके शरीर अवयवों में समाहित रहता हुआ भा उनसे नितान्त भिन्न है उसी प्रकार यह भी काव्य के प्रसिद्ध अंगों से भिन्न होता हुआ भी अर्थ ही पत्था है ।^२ माय ही जिस प्रकार अगना लावण्य अवयवों से ही व्यक्त होता है, अवयव ही उस लावण्य की प्रतापि के साधन हैं उसी प्रकार काव्य ही ध्वयय का साधन है । इस आधार पर काव्य को भी ध्वनि सत्ता प्रदान की जाती है ।^३

यह व्यंग्य अथ ही काव्य की आत्मा है । काव्यगत समस्त चमत्कार इसी से सम्बन्धित हैं । इस अर्थ की अपेक्षा काव्य के शक्तिय शील हैं ।^४ यह कभी तो रस स्वरूप होता है और कभी वस्तु एव अलंकार स्वरूप । रस रूप में यह ध्वनि की आत्मा माना जाता है ।^५ रस चित्तवृत्ति रूप है और वस्तु और अनकार बौद्धिक ज्ञान रूप । चित्तवृत्ति किसी स्थिति में वाच्य नहीं हो सकती है । जब साधारण सुख दुःख वाग्न नहीं होते तो चित्तवृत्ति का वाच्यत्व तो सर्वथा बहुत दूर है । यह ही काव्य का चरम लावण्य है । इस काव्य लावण्य की ओर काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि तो गई परन्तु सिद्धांत रूप में उसका सम्यक् विवेचन आनन्दवधन से पूर्व न हो सका ।

आनन्दवधन के पूर्व ध्वनि की स्थिति —

आनन्दवधन ने ही सब प्रथम काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धांत की प्रतिष्ठा की । उसके पूर्व काल में काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों पर विचार विमर्श अवश्य हुआ और रस, अलंकार, रीति आदि सिद्धान्त भी अवतरित हुये । व्यासालोक में ध्वनि की पूर्वस्थिति एवं अनुपस्थिति दोनों का

१ तनु तावत्स्वेवश्रूयमाणेषु वक्तव्येषु यो द्रुतिविलम्बादिवृत्तिभेदात्मा प्रतिष्ठा दुष्कारणयापारादम्यधिकं स ध्वनिरुक्तः ।
यदाह ॥ एव शब्दस्योच्चमभिव्यक्त्येव तिभेदे तु वक्तव्यं ध्वनयः समुपोह्यन्ते, स्फोटोत्पत्त्या तन भिद्यन्ते ।

— लोचन पृ० ५६

२ प्रीतीयमान पुनरप्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महान्वीनाम ।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवावयवेषु ॥ ध्व० १४

३ व्यक्त काव्यविशेषः स ध्वनिरित्यस्य कथितः । ध्व० ११३

४ ध्व०, १-१३

५ वही, २-२

उल्लेख है। प्रथम कारिका की वृत्ति में उहोने स्वीकार किया कि काव्य ममज्ञो ने काव्य के आत्म-भूत तत्व को ध्वनि नाम दिया है और परम्परा से बार-बार प्रकाशित किया है।^१ शब्द और अर्थ की सहकारिता से व्यक्त इस अर्थ से सम्पन्न काव्य को काव्यतत्त्वाथदर्शी विद्वानों ने ध्वनि कहा है।^२ उक्त ग्रन्थ को स्पष्ट करने के लिये ध्वन्यालोककार ने भूतकालिक ज्ञिया का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि पूर्ववर्तीकाल में काव्यशास्त्री उस चमत्कार तक पहुँच चुके थे, जिसको ध्वन्यालोक में ध्वनि नाम प्रदान किया गया है। परन्तु इसी ग्रन्थ में कारिका एवं वृत्ति दोनों में यह भी अमिदग्ध पदा में उल्लेख है कि ध्वनि पूर्वकाल में न तो लक्षणकारों को इस सिद्धांत का पता था, न इसकी प्रसिद्धि हो थी और न उनकी सूक्ष्म बुद्धि इसके उद्घाटन करने में ही समर्थ हुई थी।^३ इसके अतिरिक्त रीति का लक्षण करने वाले वामनादि को जो ध्वनिकार के पूर्ववर्ती हैं, यह ध्वनि हय काव्यतत्त्व योद्धा योद्धा स्फुरित हुआ था। वे केवल व्याख्या करत में असमर्थ रहे।^४ 'ध्वन्यालोक' में ही ये परस्पर विरोधी उल्लेख प्राप्त होते हैं। अतएव इनकी सगीत स्थापित करना आवश्यक है।

ध्वन्यालोककार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ध्वनि—अभाववादियों के विकल्पो की कल्पना की है। उनमें एक विकल्प यह है कि प्रसिद्ध प्रस्थाना सिद्धांतों में ध्वनि का नाम नहीं सुना जाता है। अभी तक गुण, अलंकार ही काव्य सिद्धांत प्रसिद्ध हैं। यदि ध्वनिमात्र इन प्रसिद्ध सिद्धांतों के अतिरिक्त कोई भाग है तो उसमें काव्य हानि होगी। पूर्व पणवालों के इस विकल्प का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा कि यह ध्वनिमात्र केवल लक्षणकारी को ही प्रसिद्ध नहीं था,^५ वे ही इसकी नहीं जानते थे। यदि जानते होते, तो इसका लक्षण अवश्य करते। परन्तु लक्षण की अप्रसिद्धि में सिद्धांत प्रथवा वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता है। पूर्ववर्ती लक्ष्य—ग्रन्थों की परीक्षा करने पर यही

१ कुछ काव्यतत्त्वविदिभि, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति सन्निध, परम्परया य समाभ्यातपूर्व सम्पन्न आसमन्तात्, भात प्रकटित।

ध्वन्यालोक प्रथम कारिका की वृत्ति।

२ स ध्वनिरिति सूरिभि कथित। ध्वन्यालोक, १-१३

सूरिभि काव्यतत्त्वाथदर्शिभि ध्वनिरित्युक्त। ध्वन्या०, १-१३ वृत्ति भाग

३ ॥ यतो लक्षणवृत्तामेव स केवल न प्रसिद्ध। ध्वन्या०, १-१३ का वृत्ति भाग
व अणुध्वनीभिरिवरतन काव्यलक्ष्मविधायिना बुद्धिभिरनु मोलितपूर्वम्।

ध्वन्या, १-१ का वृत्तिभाग

स सतततमविदितसतत्व। ध्वन्या०, ३ ३४

४ अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद्योदितम्।

असाङ्गवृत्तिभिर्यावन्तु रीतय सम्प्रवृत्तिता। ध्वन्या०, ३ ४७

रीतिलक्षणविधायिना हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया भनाक स्फुरितमासीत्।

ध्वन्या०, ३ ४७ की वृत्ति

५ यतो लक्षणवृत्तामेव स केवल न प्रसिद्ध

ध्वन्या०, १-१३ की वृत्ति

भामह के काव्य प्रलकार में ध्वनि संकेत —

लक्षण ग्रंथों की क्रमिक परम्परा में नाट्यशास्त्र के पश्चात् भामह का काव्यालंकार हो उपलब्ध लक्षण-ग्रंथ है। इन दोनों आचार्यों के मध्य में काव्यालोचन पर विचार अवश्य ही हुआ होगा। स्वयं काव्यालंकार में मेधावी, रामशर्मा, शास्त्रवद्ध न के नामा का उल्लेख है। रामशर्मा के 'अच्युतोत्तर' नामक ग्रंथ का भी नाम इसमें है।^१ परंतु ग्रंथ ग्रंथों की अप्राप्ति में अगत्या नाट्यशास्त्र के पश्चात् काव्यालंकार का ही क्रमिक स्थान मानना पड़ेगा।

भामह प्रलकार-पद्धति के आचार्य हैं। काव्यशास्त्र की विचार विमर्श परम्परा में इस ग्रंथ का अनुपम मूल्य है। उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन और मम्मट आदि आचार्य इसमें प्रणो हैं। अभिवेद्याय की सुन्दर व्याख्या इसमें उपलब्ध होती है।^२ भामह अभिधावादी आचार्य हैं। परंतु भामह ऐसे अभिधावादी नहीं हैं जो व्यंजना का विरोध करें। अपितु उनका ग्रंथ में ध्वनि के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

काव्यालंकार में व्यंग्याय अथवा ध्वनि के प्रतिपादन में प्रयुक्त होने वाली पदावली का बाहुल्य है। साथ में यह भी निश्चित है कि भामह जब स्वतंत्र विचारक एवं स्पष्ट वक्ता आचार्य ने अपने शब्दों का ग्रंथ जानकर ही प्रयोग किया है। प्रतिवस्तुपमा के लक्षण में गूण साम्य प्रतीतित,^३ अर्थात्तरयास में 'अयमर्थात्तरयास मुतरा व्यजयते', समासोक्ति में यथोक्त 'गम्यतेऽयोऽय' एव वक्तोक्ति 'अनयायों विभाष्यते' इत्यादि ऐसी पदावली हैं जिसमें वाच्येतर ग्रंथ की प्रतीति (व्यंजना) की ओर स्पष्ट मनेन है। अर्थात् इन उदाहरणों में प्रयुक्त 'प्रतीतित', 'व्यजयते', 'गम्यते' और 'विभाष्यते' ऐसे पद हैं जो व्यंजना के प्रसंग में ही प्रयुक्त होते हैं और कई विद्वानों ने भामह की इस पदावली को व्यंग्याय सूचक स्वीकार भी किया है।^४ लोचनकार ने 'विभाष्यते' का अर्थ 'रसमयी क्रियते' से लेते हैं।^५

इस पदावली के प्रतिरिक्त काव्यालंकार के लक्षणों से उद्धरण भी यथेष्ट संख्या में संकलित किये जा सकते हैं जिनमें वाच्यता से भिन्न किसी अतिशयोक्ति वक्त्र, गुरु, विशेष आदि विशेषणों से विशिष्ट ग्रंथ की ओर संकेत विद्यमान हैं।

नितान्त आदि शब्दमात्र (प्रयोग) से वाणी में सौंदर्य नहीं हो पाता है। वक्त्र-गर्व और ग्रंथ की उक्ति ही वाणी का काव्य प्रलकार है।^६ वाणी में 'वक्त्राप्रशक्तिक' ही प्रलकार जनक

१ प्रहलिका साह्युदिता रामशर्माच्युतात्तरे। भामह काव्यालंकार, २—१६

२ काव्यालंकार, ६—७—१५

३ विवेकेण च भाष्यते रसमयीक्रियते इति।

—लोचन, पृ० २६०

४ काव्यालंकार, २—३४

५ वही, २—७६

६ वही, २—८५

७ ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत, पृ० ३७२

८ विवेकेण च भाष्यते रसमयी क्रियते इति। लोचन पृ० २६०

९ न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।

वक्त्राभिधेयादोक्तिरिष्टा वाचामलकृति। काव्यालंकार १—३६

नोट—इसका अनुवाद डा० सत्यदेव चौधरी ने भा० का० की परम्परा में थोड़ा भिन्न किया है। उनके अनुवाद से हमारे अग्रोष्ठ की विशेष पुष्टि होती है। उनका अनुवाद यह है कि 'नितान्त आदि शब्दों द्वारा व्यक्त अतिशयोक्ति से ही वाणी सौष्ठव नहीं हो जाता।' 'नेप ऊपर की भांति। इस अनुवाद में शब्दा द्वारा व्यक्त अतिशयोक्ति पद समूह विचारणीय है।

होती है।^१ हेतु, सूक्ष्म लेश को अलंकार स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि उनमें वक्रोक्ति का समावेश नहीं होता है।^२ इससे यह स्पष्ट हो गया कि आचार्य ने वक्र कथन में ही अलंकारता मानी है और उसके अभाव में हेतु आदि अलंकारों को अलंकार नहीं माना है। वक्रकथन साधारण वाच्य में भिन्न है। समानवस्तु के नाश से जहा गया, इव आदि वाचकों के अभाव में भी गुण साम्य प्रतीति हाती है उसे प्रतिशस्तूपमा कहते हैं।^३ स्मरण रहे ध्वन्यालोककार शब्द से अनुक्त शब्द शक्ति से आक्षिप्त अलंकार को सादशयुक्त्य विवक्षितवाच्य ध्वनि स्वीकार करते हैं।^४ कृता कवि उपमालंकार में असम्भव अर्थ का निवर्धन नहीं करता, परंतु अतिशयवान् अर्थ ही इष्ट है।^५ अतिशयवान् और व्यंग्य एक ही अर्थ के दो नाम जान पड़ते हैं।

अतिशयाति मे लोकातिश्रातगावर वचन निमित्त होते हैं।^६ यहाँ पर लोकातिश्रात गावर वचन से आचार्य का तात्पर्य यह है कि अतिशयोक्ति में ऐसी सादृश्यता का प्रयोग होता है जिससे लोकातिश्रात अर्थ (व्यंग्य) का द्योतन हो। ध्वन्यालोक में भामह की अतिशयाति को लेकर विचार हुआ है और अन्त में आचार्य को यह स्वीकार करना पड़ा है कि 'विशेष यही है कि सभी अलंकार अतिशयोक्ति के विषय हो सकते हैं।'^७ इसी को सर्वालंकाररूप समझना चाहिये।^८ वह गुणातिशयायोग वाली सभी 'वक्रोक्ति' है।^९ इससे अर्थ में सरसता आती है। इसके बिना कोई अलंकार होना ही नहीं। उत्प्रेक्षा के लक्षण में तो आचार्य ने वाच्य की विवक्षा का त्याग किया है। उससे उनका अभिप्राय है वाचक शब्दों का प्रयोग तो किया जाय परन्तु वाच्य की विवक्षा न रहे। इस वाच्येतर विवक्षा में नागशिव अथवा व्यंग्य अर्थ को ही विवक्षा हो सकती है। जिसमें सामान्य (वाच्य) की विवक्षा नहीं होती और उपमा का पाठा योग रहता है, उसे भिन्न गुण और भिन्न क्रिया के योग से अतिशयवान् अर्थ से श्रवित रहने वाली उत्प्रेक्षा कहते हैं।^{१०} अर्थ प्रकार द्वारा किया गया कथा ही पर्यायोक्त होता है।^{११} यहाँ पर यह कहना अत्यंत आवश्यक एवं प्रासंगिक है कि आचार्य भामह का पर्यायोक्त लक्षण व्यंग्य

१ वाचावक्राय सा दीक्षितलंकाराय कल्पते । वही, ५—६६

२ हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।

समुदायाऽभिधानस्यऽवक्रमैत्यनभिधानतः । वाच्यालंकार, २ ६६

३ समानवस्तु-यामेन प्रतिशस्तूपमोच्यते । यथैवालभिधानऽपि गुणसाम्यप्रनातिर् ।

—वही, २ ३४

४ ध्वन्यालोक, २ २२

५ तत्रासम्भविनार्थेन कं कुर्यादुपमा श्रुती । २ ४६

यस्यातिशयवनाय कथं सौऽसम्भवो मतः । २ ५०

६ निमित्ततो वचो यतु लोकातिश्रातगावरम् । २ ८१

७ अतिशयोक्तिस्तु सर्वालंकार विषयोऽपि सम्भवतोऽप्यत्र विशेषः । ध्व०, ३ ३७ की वृत्ति

८ सर्व सर्वालंकाररूपा—ध्व०, ३ ३७ वृत्ति ।

९ अतिशयवनाय किंचिदुपमा सह ।

अतदगुणं त्रिधा योगात्प्रेक्षातिशया विता ॥ वाच्यालंकार, २—६१

१० पर्यायोक्तं यद्वचनं प्रकाराभिधीयते । वही, ३—८

दशन का एक प्रधान कारण बना। इसी लक्षण पर उद्गम और मर्मट क लक्षण आधारित हैं जिनमें व्यञ्जना की स्वीकृति है। यह निश्चित है कि साक्षात् रुद्र सवेति-ग्रथ ॥ अभिधा स्वीकार करने वाला आचार्य ग्रथ प्रकार का कथन अभिधेतर वृत्ति से स्वीकार करता है। कदाचित् मीमांसको के प्रभाव के कारण उन्होंने अभिधा वृत्ति के नामकरण को चिन्ता नहीं की। निदशना अलकार म यथा, इव और वृ के बिना केवल श्रिया के द्वारा ही विनोय ग्रथ की प्रतीति होती है।^१ निदशना अलकार म प्रतीत होने वाला विनोय ग्रथ उपमा की परिकल्पना है। यह उपमा आक्षिप्त और 'यग्य' है। इसीलिये काव्यप्रकाश व टीकाकार भनकीवर ने मर्मट के लक्षणात्गत 'उपमा परिकल्पक' पद का कल्पना का ग्रथ 'पञ्चना' से किया है।^२ इसी प्रकार विरोध आदि ग्रथ अलकारों के लक्षणा म अभिधेय स ग्रथ ग्रथ की स्वीकृति है।

भामह ध्वनिधादो आचार्य —

उपयुक्त सभी उदाहरणों की परीक्षा करके देखा जाय तो सबमें व्यङ्ग्यार्थ की ही आर सक्त है। डा० भोनासकर व्यास ने इन उदाहरणों से कतिपय का उल्लेख करके भामह को प्रतीयमानार्थ का स्वीकार करने वाला स्वीकार किया है।^३ लोचनकार अभिनव गुप्त ने भी उपयुक्त स्थला में व्यङ्ग्य की सत्ता स्वीकार की है।^४

ध्वयालोक म दो प्रकार से भामह के अलकारों की परीक्षा की गई है। एक उनका नामत उल्लेख करके और दूसरे बिना नाम के। भामह का नामोल्लेख वक्राक्तिगमा प्रतिशयोक्ति के प्रसंग में है। प्रथम उद्योत में ध्वनिकार अलकारों म ध्वनि का खडन करते हुए भामह के समानोक्ति आक्षेप, विनोयोक्ति पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक आदि अलकारों म 'यग्य' प्रतीति स्वीकार करते हैं।^५ लोचनकार ने ध्वयालोककार की उपयुक्त साधता को स्पष्ट कर दिया है। 'अनुरागवती सध्या', वाला उदाहरण भामह ने समासाक्ति के उदाहरण म दिया है। इसमें भी व्यङ्ग्य है। भामह के अभिप्राय को ध्यान म रखकर ही शय्यकार ने यह उदाहरण ग्रहण किया है।^६ उन्होंने ध्वयालोक की वृत्ति को स्पष्ट करने के लिये कायालकार की परिभाषाएँ और उदाहरण दिये हैं।^७ प्रायः सभी अलकार अनिशयोक्ति गम हो सकते हैं। यह प्रतिशयोक्ति गमता ही का य को अनिर्वचनीय बोधा प्रदान करती है। कवि की प्रतिभावाग यह ध्वनिशयोक्ति जिस अलकार म निवास करती है वही गोभातिशय प्राप्त करता है। ग्रथ अलकारों म यह क्षमता नहीं है। सभी अलकारों का रूप धारण कर सकने की सामर्थ्य के कारण यही प्रति शयोक्ति गम वक्रोक्ति सर्वालकार स्वरूप है।

१ क्रिययव विशिष्टस्य तदयस्योपदशनात्।

येया निदशना नाम यथेववतिगविनी ॥ वही ३—३३

२ कल्पन व्यञ्जन काव्यप्रकाश-वालवोषिनी टीका पृ० ६१५

३ ध्वनि मर्मप्रयाय तथा उसके सिद्धांत, पृ० ३७२

४ लोचन, पृ० ४१—४२

५ यत्र तु प्रतीतिरस्ति। ध्वयालोक, पृ० ४१

६ लोचन पृ० ४४

७ वही, पृ० ४१—४६

अपने अलंकार सवस्व के प्रारम्भ में स्य्यक ने काव्य सरणियों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि भामह और उद्भट आदि प्राचीन अलंकारिक प्रतीयमान ग्रन्थ को वाच्यार्थ का उपस्कारक स्वीकार करते हैं और उस अलंकार कोटि में छोड़ देते हैं।^१

आचार्य मम्मट भामह का नामोल्लेख करके काव्यालंकार में प्रतीयमानाथ के सवेत पर अपनी सम्मति नहीं देते हैं। परन्तु वह काव्यालंकार के विशेष श्रेणी हैं। आक्षेप, विभावना और भाविक अलंकारों के लक्षण काव्य प्रकाश में काव्यालंकार से ही ग्रहण किये गये हैं। काव्यालंकार के पर्याय लक्षण को उन्होंने उद्भट के सुधार के साथ स्वीकार किया है, जिसमें अवगमन व्यापार की शब्दता स्वीकृति है।

पंडितराज न रसगंगाधर ने पर्यायोक्त अलंकार का उपमहार करते हुये लिखा है, 'ध्वनि-कार से प्राचीन भामह एक उद्भट आदि अलंकारिकों ने अपने ग्रन्थों में वही भी गुणीभूत व्यंग्याथ शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। केवल इमीलिये स्वीकार करना कि व ध्वनि आदि को स्वीकार नहीं करते, यह प्राधुनिक अलंकारिकों का मत ठीक नहीं है। नारण, समासोक्ति, व्याजस्तुति, प्रपञ्चस्तुति, प्रशंसा आदि अलंकारों के निरूपण द्वारा उन्होंने गुणीभूत पद्य के कोई भेदों का उल्लेख किया है। दूसरे उन्होंने सभी व्यंग्य प्रपञ्च को पर्यायोक्त में अंतर्भावित कर दिया है। अनुभवसिद्ध ग्रन्थ को तो बालक भी अस्वीकार नहीं कर सकता फिर, फिर भला भामह आदि चिरंतन अलंकारिक प्रतीयमानाथ का सवधा निषेध कैसे कर सकते थे? यह ठीक है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में ध्वन्यादि शब्दों का उपमहार नहीं किया है। इससे उनकी ध्वनि विषयक अस्वीकृति सिद्ध नहीं होती है। हा, यह विचार दूसरा है कि प्रधानभूत ध्वनि रूप अलंकार को उन्होंने अलंकार की कोटि में किन प्रकार अंतर्भावित कर दिया।^२ पंडितराज के इस उल्लेख से काव्यालंकार में गुणीभूत-व्यंग्य का निरूपण है।

प्राधुनिक विद्वानों में श्री सोवानी, डा० के० पी० त्रिवेदी, श्री डा० मोला शंकर व्यास भामह का ध्वनिवादी मानते हैं। डा० सोवानी ने अपने निबन्ध 'ध्वनि के पूर्ववर्ती अलंकार सिद्धांत' में भामह की वक्रांति और मम्मट की प्रोक्षोत्तिमान निष्पन्न शरीर अथशतयुक्त ध्वनि का साम्य मिल कर उनके ध्वनिवादी होने का सकेन किया है।^३ डा० के० पी० त्रिवेदी अपने निबन्ध में

१ अलंकार-सवस्व, पृ० ३

२ ध्वनिकार-प्राचीन-भामहोद्भट प्रमतिभि स्वधयेषु कुनापि ध्वनिगुणीभूत-व्यंग्यादि शब्द न प्रयुक्ता इत्येतावत्सर्वं तैध्वन्यादयो न स्वीकृत्यत इत्याधुनिकानां वाच्योक्तिरमुक्तं च । यत समासोक्ति-याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशंसावलंकारनिरूपेणैव नियन्तोऽपि गुणीभूतेष्वगमसेदाभ्यस्तैरपि निरूपिता । अपरं च सर्वोऽपि व्यंग्यप्रपञ्च पर्यायोक्तमुक्तो निमित्त न ह यनुभवसिद्धौऽर्थो बालेनाप्यहोनोतु शक्यते । ध्वन्यादिशब्दे पर व्यवहारो न इत् । नखेतावत्तानमोवारी भवति । प्राप्तायादलंकारा हि ध्वनिरलंकारस्य पर्यायोक्तस्य कुसोपकार निविष्टतामिति तु विचारान्तरम् । रसगंगाधर, पृ० ५५५ ध्वनि सम्प्रदाय, पृ० ३७५

३ 'However Bhamaha's Vakrokti does appear in kavya prakash under the name of प्रोक्षित प्रोक्षोत्तिमाननिष्पन्नशरीरोऽथशतयुक्त ध्वनि । Bhandarkar Comm Vo

भामह की वक्तोक्ति, अतिशयोक्ति आदि की परीक्षा के पश्चात् उनको पूर्ण ध्वनिवादी मानते हैं। उनके विचारों का सार यहाँ पर देना पूर्वोक्तवचन की पुनरावृत्ति होगी। उद्भट ने भामह विवरण नामक काव्यालंकार की 'यावदा म सम्बद्धदोऽभिधानाय' म अभिधान की व्याख्या में 'शब्दा नामभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च लिप्ता है। अभिनव न लोचन ने उद्भट के नाम से इसको उद्धृत किया है। डा० त्रिवेदी का कहना है कि जब उद्भट 'अभिधानम स अभिधा व्यापार और गुणवृत्ति दोनों को ग्रहण करते हैं तो इमका उपलक्षण मानकर लक्षणा और व्यञ्जना को भी ग्रहण क्यों न कर लिया जाय ?' डा० त्रिवेदी का यह वचन शीघ्रतत्पूरण है। काव्यालंकार के लोकाभिधान त गोचरवचन को ध्वनि का ही पर्याय माना जा सकता है। जिसके अभाव में सूक्ष्म और लक्ष को अलंकार ही स्वीकार नहीं किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ध्वनि के विकास में भामह का प्रमुख स्थान है। उनसे काव्यालंकार म ध्वनि के स्पष्ट सकेत विद्यमान है और उनके अलंकारलक्षण ध्वनि का भूमिका निम्न हुये हैं।

दही का काव्यादश—

काव्यालंकार के पश्चात् काव्यशास्त्र सम्बन्धी दूसरा ग्रन्थ दही का काव्यादश है। इस ग्रन्थ म कही भी शतशक्तियों का उल्लेख नहीं है। काव्यालंकार म कम से कम शतशत सम्बन्ध के विषय म मशोरन किया गया है जिससे उस आचार्य को अभिधा विषयक धारणा स्पष्ट होती है। प्रत्यक्ष दही काव्यालंकार के अभाववादी विवरण के अंतर्गत सम्मिलित होते हैं, परन्तु काव्यादश म अभिधा के अतिरिक्त ग्रन्थ दो गिनिया लक्षणा, 'यजना के सम्बन्ध में सकेत विद्यमान हैं।

काव्यादश की रचना स पूर्व काव्यालंकार की रचना हो चुकी थी। काव्यशास्त्रियों को खड़े होने का लिय आधार मिल चुका था। दूसरे काव्यशास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण, मोमाता, 'यावदा' आदि में अभिधा और लक्षणा का प्रतिपादन हो चुका था। परन्तु काव्य का सुंदरतम चमत्कार तो व्यञ्जना में निवास करता है। वही अगनागलावण्य की भाँति आकर्षण का कारण है। इस समय तक हम चमत्कार की अनेक अलंकारिका को दिखाई पड़ने लगी थी।

काव्यादश में ध्वनि सकेत —

काव्य के लक्षण 'गरीर तावदिष्टाय यवच्छिन्ना पदावली' म 'इष्टाय' काव्यात्मा का शोधक है। 'इष्टाय' ही अलंकार एवं प्रधान है, इसी से यवच्छिन्न पदावली काव्यपद लाभ कर पाती है। यह 'इष्टाय' सवदा वाच्य ही नहीं होता वह ला शक्ति और व्यंग्य भी होता है। यह अनुभव सिद्ध है। काव्यादश के एक व्याख्या-कार रगाचार्य रेडडी ने 'इष्टत्व की व्याख्या चमत्कार पूर्वक धारणा मिलाप' म और 'अर्थ' की वाच्य लक्ष्य व्यंग्यभेदेन त्रिविध' म से की है। व्याख्याकार के

१ Should it not be explained as

अभिधानमभिधा व्यापार ।

उपलक्षणमिदम् । तेन लक्षणा यजनयोरपि ग्रहणमित्यर्थः । Bhandarkar comm

Vol

२ काव्यादश, १ १०

३ रगाचार्य रेडडी 'काव्यादश, पृ० ८ प० १५

४ वही, पृ० १ प० ३५

अनुसार रमणीयायौवस्तु^१ सुन्दर वाक्य ही वाच्य है। रमणीया यौवस्तु पद व्यंग्यार्थ का समथक है।

आचार्य के अनुसार 'वाचिवस्तु यपि रसस्थिति'^२ वाणी (शब्द) और वस्तु (अर्थ) में रस स्थिति होती है, पर तु शब्द और अर्थ का रस से सम्बन्ध अभिधा के अतिरिक्त ही मानना होगा। सम्पूर्ण अलंकार समुदाय भी अर्थ में रस सिंचन करता है।^३ परन्तु अलंकार का चमत्कार-जनक रस सिंचन करने वाला रूप व्यंग्य ही है। आचार्य का विश्वास है कि जो अर्थ अविदग्धजनकयन विधि से ग्राम्यता धारण कर विरसता उत्पन्न करता है वही विदग्ध जनकयन विधि से अग्राम्य होकर रसावह हो जाता है।^४ स्पष्ट है कि अविदग्धजन रचन अभिधेय और विदग्धजन-वचन जिससे भिन्न सदैव व्यंग्य ही होगा।

दंडी ने रमयत अलंकार में सभी रसा के उदाहरण देकर उनका उपसंहार करते हुये लिखा है 'वाक्यस्याग्रामतायोनिर्माभूयं दसितो रस'।^५ ध्वनि के इस सिद्धांत को रसा^६ की प्रतीति को कोई भी गुणवृत्ति नहीं कहता है और न वह हो सकता है।^७—पर ध्यान देते हुये ध्वनि की व्याख्या 'व्यञ्जिका' ही की जा सकती है। इस प्रकार दंडी ने मत में भी व्यञ्जना वृत्ति की स्वीकृत सिद्ध की गयी होनी है।

आचार्य ने उदारता गुण का लक्षण इस प्रकार लिया है, 'जिस वाक्य के प्रयोग से किसी धर्म के विशेष उत्कर्ष की प्रतीति (व्यञ्जना) हो उसे उदार गुण नाम लिया जाता है और वाक्य पद्धति इसी गुण से गणाय मानी जाती है।' वा० दश० के० बलवल्लभ ने काव्यादश के अंग्रेजी अनुवाद में उदार अर्थ प्रतीयते, शब्दा के अनुवा^८ व्यंग्य परक किये हैं।^९ डा० भोलाशकर ने भी इस 'प्रतीयते' पद में व्यञ्जना स्वीकार की है।^{१०} इस गुण के उदाहरण का अर्थ यह है कि हे दय। याचक की कृपण दृष्टि एक बार ही आपके मुख पर पड़ती है, उस अवस्था में उन्हें फिर भी दूसरे का मुलावलोकन नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार इस वाक्य में त्याग का उत्कर्ष भली भाँति दिखलाइ पड़ता है।^{११} इसमें स्वयं उहाने त्याग का उत्कर्ष स्वीकार किया है। परन्तु यह उत्कर्षाव बोध वाक्य का अभिधेय नहीं है। फलतः यह बोध अभिधेतर शक्ति से ही सम्भव है। वस्तुतः 'लक्ष्यते' पद आचार्य द्वारा 'व्ययते व' ही अर्थ में प्रयुक्त है।

१ वही, पृ० ६, पं० ४०

२ काव्यादश, १५१

३ काम सर्वोपलकारो रमयते निपाति। काव्यादश, १६२

४ काव्यादश, १६३—६४

५ वही, २—२६२

६ हिंदी धन्यालोच, पृ० ३५५

७ काव्यादश का अंग्रेजी अनुवा^८, पृ० ६

८ ध्वनि सम्प्रदाय, पृ० ३७३

९ अधिना कृपणा दृष्टिस्तु मुखं पतिता सक्त।

तत्त्वस्था पुनर्देव नायस्य भुपभीक्षते।

इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन् उत्कर्ष साधु लक्ष्यते। वा० दश, १ ७७—७८

उपमा के लक्षण म 'यथाव्यवहित माहृत्य यत्रोद्भूत प्रतीयन्'¹ म प्रयुक्त 'प्रतीयन्'² म की व्याख्या करने हुए रंगाचार्य ने लिखा है ।³ ध्वनिधा, लगणा और व्यञ्जना म से किन्नी एक वृत्ति क द्वारा प्रतीति होती है ।⁴ वस्तुतः म माधारण धम का उल्लेख नहीं होता है अतएव दही उसे 'प्रतीयमानकधर्मा स्वीकार करत हैं । 'त' की अनुवस्थिति म धम की प्रतीति व्यञ्जना स हो हो सकता है । कारण, ध्वनिधा की पुच्छभूता लगणा का भी वहाँ ध्वन्यात् सम्भव नहीं है । अतएव प्रतीयमानकधर्मा की 'गम्यमानकधर्मा' ध्वन्या 'व्यग्येवधर्मा स्वीकार कर दही के मन मे भी व्यञ्जना की सरा मानना पड़ेगी । इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा म साम्यवाचक इवादि पाठों के समर्थ में 'साम्यप्रतीति व्यञ्जना वृत्ति स हो सम्भव होगी ।⁵ भाविन के लक्षण म 'व्यक्ति' पद का प्रयोग ध्वनिव्यक्ति के अर्थ में किया गया है ।⁶

आचार्य ने उपमासूत्रक पाठों की तनिबा दी है जिसका रंगाचार्य ने उपमाधारन, उपमा लभाव और उपमाव्यञ्जक तीन भागा म विभक्त किया है । इनम इव, यत आदि 'त' उपमासाधक हैं, स्वर्था करता है, जोता है आदि उपमाव्यञ्जक हैं, इवादि स्वर्था करता है आदि 'त' सादृश्य साधक नहीं हैं, और 'भीमाय को युगता है आदि उपमाव्यञ्जक हैं ।⁷ दूसरा बात यह कि वाक्या दम म भी म उपमा सूत्रक पाठों किनी तामकरण के अलग अलग तीन भागा म विभक्त हैं । इनमिसे रंगाचार्य की व्याख्या आचार्य के मानानुसार मानी जा सकती है । कारण, आचार्य ने उनका उनी क्रम से उक्त किया है । अतिरिक्त अलंकार के उदाहरणों म भी एका ही क्रम रंगा गया है ।⁸ आचार्य दही न प्रतीयमानता यह स्वीकार की है जहाँ वाक्य 'त' का समर्थ है ।

अलंकार लक्षणों में अत्यन्त अर्थ का लक्ष्य — आदि अलंकार म प्रतीयमानता की निश्चित सरा होती है । इनमें प्रतीयमानता के सम्बन्ध म प्राय सभी आचार्य एक मन हैं । वाक्यादम म उपमादि अलंकारों की भाँति आदि न विविध भेद का विस्तृत वर्णन है । इनम स केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करता यथः होगा । 'ता उर को जाग की दृष्टा ता उर ताविका कटनी है, ए पतिने । यदि साय विष्णु जाता था ते १ ता अथवा जाय साय मर विषय म तत्रि भी विष्णु न करें वरानि आतको विष्णु-याता मुा अधिा देर तह दुग न द गइया ।⁹ इनके पन्चाश्र दूसरे श्लोक म इन अनुता आदि का व व्याख्या करने हुये लिखते हैं इन प्रकार ध्वनि क समन की अनुमति मे ही अग मरण की मूर्तता न वाचो नापिका क द्वारा ध्वनि के समन का निरूप कर दिया गया । १० उपर्युक्त उदाहरण म किन्नी तेम पाठ का प्रयोग हुआ है जिसम मरण की मूर्तता

१ वाक्यादम ३—१४

२ रंगाचार्य टीका पृ० ११६ पंक्ति ३ 'ध्वनिधातुलगाव्यञ्जनाधारवृत्त्याप्रतीति विवक्षयति ।'

३ साम्य प्रतीति

इवादि साम्यप्रतीतिवाचकानि व्यञ्जनमात्राध्वन्याधारवोच । रंगाचार्य पृ० १४० पंक्ति ४

४ रंगाचार्य पृ० २१३ पंक्ति २३

५ यही पृ० १२७

६ वाक्यादम २—१८०

७ वाक्यादम ३—११३

८ यही १३६

वाच्य स्वीकार की जा सके। अभिधा से तो गमन की अनुमति ही प्रतिपादित होती है परन्तु वही अनुमति ही आचाय के मत में मरण की सूचना है और फलतः अनुमति से उसके विपरीत गमननिषेध ग्रथ की प्रतीति होती है। साहित्यिक जगत में यह निषेध व्यंग्य के अतिरिक्त दूसरी ग्रंथ कोई वस्तु नहीं है। ग्रंथ उदाहरणों में भी प्रायः यही स्थिति है। दही के व्याख्याकारों ने भी यहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति ही मानी है। सुयोग की बात यह है कि आचाय ने उदाहरण देकर उसके द्वितीयार्थ व्यंग्याय का तदनन्तर दूसरे श्लोक में उल्लेख कर दिया है।

न्यायिक गणधर के शक्तिवाद के प्रारम्भ में ही व्यजना का खडन करने के लिये इस उदाहरण का पूर्व पक्ष में उल्लेख किया है।^१ वह द्वितीय ग्रंथ जिसका साहित्यिक-व्यंग्याय मानता है का बोध किसी वृत्ति विशेष से न मानकर सहृदय की मन चरुणा ही स्वीकार करते हैं।^२ कहने का तात्पर्य यह है कि शक्तिवाद के लेखकों दृष्टि में प्रथम उदाहरण में द्वितीयार्थ व्यंग्याय ही है।

समासोक्ति में व्यंग्याय की सत्ता रहती है। काव्यादश का समासोक्ति का लक्षण यह है 'किसी वस्तु उपमान अथवा उपमेय—का वणन अभीष्ट होने पर उसके तुल्य अथ वस्तु—उपमेय अथवा उपमान—का वणन किया जाय। संक्षेप में इसी प्रकार के कथन को समासोक्ति कहते हैं।^३ समासोक्ति में अभीष्ट का वणन न करके तुल्य अथ वस्तु का वणन किया जाता है। इससे अभीष्ट की प्रतीति होती है। इस पर व्याख्याकार का अभिमत इस प्रकार है, 'प्रस्तुत अथवा^४ अप्रस्तुत से किसी एक का शब्द के द्वारा प्रतिपादन करके उसके अतिरिक्त अथ अप्रस्तुत अथवा प्रस्तुत—का 'यजना से बोध विशेष चमत्कार आधायक होता है और यही इस अनकार का बीज है। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है 'वाच्यार्थ न उतना आस्वादन नहीं होना जितना प्रतीयमान का होता है।'^५

समासोक्ति का उदाहरण यह है, 'प्रीति नायिका से प्रेम करने वाला कोई नायक उससे कहता है 'हे प्रिये देता, भ्रमर पूरा विकसित पक्ष में यथातुष्टि मधुपान करता हुआ भी अपरिपक्व सुगन्धवाती कलिका का चुम्बन करता है।^६ इसकी व्याख्या में आचाय नहीं न लिखा है, "यहाँ पर इस कथन से प्रीति नायिका में आवद्धरति रागी की किसी वाला में इच्छावृत्ति, समोपेक्षा विभावित (विभा यते) हो रही है।^७ कवि अथवा कवि निबद्धवक्ता को उपयुक्त शब्दोपात्त वणन अभीष्ट नहीं है। अपितु यही अर्थ अभीष्ट है। परन्तु यह अर्थ अभिषेय नहीं है। यह तो विभावित होता है। भ्रमर के मत में 'विभायते का प्रयोग ('ध्वनित होता है') के लिये है।^८

१ ध्वनिसिद्धांत, पृ० ३२५

१ मनसव तादृशबोध स्वीकारात्।

२ वाव्यादश, २—२०५

४ रगाचाय, पृ० २१४ पं० ७—६

५ वाव्यादश, २—२०६

६ वही, २—२०७

७ रगाचाय व्याख्या, पृ० २१७

पर्यायोक्त एक ऐसा अलंकार है जिसमें सभी अलंकारिका ने अभिव्येदनर घष की सत्ता स्वीकार की है। वाच्यार्थ का पर्यायात् सदाएँ द्वय प्रसार है, 'अभोष्ट घष का साक्षात् (वाच्य सव्द से)। वर्णन न करके, उस अभोष्ट घष की गिद्धि के नियम जो प्रकारान्तर में यान्न किया जाता है उसे पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं। इस संगण की रगाचायटून व्याख्या विचारणीय है। 'प्रतिपाद्य इष्ट घष का साक्षात् (वाच्य सव्द) से प्रतिपादन न करके उसी इष्ट घष की सचमरार प्रतिपत्ति के लिये धानुष्योक्त भविष्योक्त स-व्यवस्था वृत्ति द्वारा छोन-ही पर्यायात् कहनाता है।' वाच्यार्थ का व्यञ्जना से प्रतिपादन ही पर्यायोक्त है। पर्यायोक्त में वाच्य का व्यञ्जना ने कथन होता है और स्वनि में वाच्य घष विषय ही नया यही दोन। भ भेन है।¹² तु-यमागिता व प्रगम म व्याख्यावार रही साम्य का पयवगानगम्य स्वीकार करत हूय नियते हैं, यज्ञता का वृत्तिव ता सभी अलंकारिका की मान्य है।¹³ दरी व अलंकारा म व्यञ्जना का समरकार मतिटिा है।

इस प्रकार आचार्य दश की भी भावों की भाँति प्रत्यक्ष म सुखीभूत-अध्यय का समतुल्य तो स्पष्ट प्रतीत हुआ परन्तु वे उग प्रतीति के नियमों का पालन न कर गये । वस्तुतः साहित्य में कृतियाँ-साध्य गतियाँ का विवेचन प्रारम्भ ही नहीं हुआ था । फिर भी दशों ने अभिप्रेत प्राप्त किए एक प्रतीयमानाथ में स्पष्ट भेद किया है । अर्थ के विविधत्व के सादृश्य से वाच्यार्थ में विद्यमान है । इनमें प्रतीयमानार्थ में उक्तों का अधिक प्राधान्य था । अथर्वना के विकास-क्रम में वाच्यार्थ उच्चतर सीढ़ी है । आचार्य दशों ने अपने उदाहरणों की व्याख्या का उत्प्रेषण करने अधिक महामुल्य काय किया है । स्थान-स्थान की व्याख्या में जो-जो अर्थ आचार्य की अभीष्ट हैं, उनमें से अधिकतर अर्थ ही हैं ।

वामन और उनका वाक्यशास्त्र ॥ योगदान—“हो वं पश्चात् वामन या इयान है। यह भी पूर्व ध्वनि काल के आचाय है। मयप्रथम वाक्यात्मा की बात वामन न कहा है। यद्यपि सम्पूर्ण सस्कृत-वाक्यशास्त्र पर दृष्टि डालन और वाक्यशास्त्रियों का वग विभाजन करो तो यह देहपादो ही ठहराई हैं—ध्वनि की अपेक्षा रीति बाहर ही है—परन्तु उनकी निम्न शास्त्राभ्यास धारित अन्तर्भेदिनी दृष्टि काय के उस मर्म तक पहुँच चुकी थी जगदा उद्घाटन ध्वनिचार एव उत्तर ध्वनिकाल के आचार्यों ने अपनी प्रत्यक्ष प्रतिभा के द्वारा किया। यद्यपि उनकी अपनी दृष्टि सीमा प्रवक्ष्य थी।”

यामन ने रीति को वाक्य की आत्मा स्वीकार किया है।^५ अभी तक आमह एक दबी ने काव्य के गरीर की बात तो वही थी लेकिन उसकी आत्मा की खर्चा पहले पहल यामन ने की। उन्होंने एक दूसरा महत्वपूर्ण काव्य गुण और भ्रमकार भ नित्य एवं अनित्य भेद स्वीकार करके किया। वाक्य में गुण नित्य हैं^६ और वाक्य दोषा गुणों से ही सम्पान्ति होती है।^७ यामन द्वारा

१ वाव्यादा, २ २६५

२ रगाचार्य-इष्ट प्रतिपादनाभिलषितम् ।

३ रगाचार्य प० २६३ प० २५

४ नगेन्द्र का० म० व० म० प० ६१

५ रीतिरात्माकायस्य, का स० वृ०, १-२ ६

६ पूर्वोक्त्या । ना० रा० वृ० ३ १ ३

७ गूणनिवृत्त्या वायुशोभा ।-वा० म० व० ४ प्रास्ताविकम् ।

स्वीकृत गुणों की सख्या घटाकर तीन मान ली गई परन्तु उनकी नित्यता विषयक भाव्यता को ध्वनिवादी भाचार्यों ने भी बिना किसी ननुनय के स्वीकार कर लिया ।

वामन का शब्द शक्ति परिचय—यह निश्चित है कि भूमिधा के सम्बन्ध में वामन जमिनोय मत के मानने वाले थे ।^१ भीमासा शास्त्र में भूमिधा शब्द-शक्ति पर विशेष विचार हुआ है । 'याय एव दशन जगत में सधरा का भी प्रवेश हो चुका था ।^२ इन दोनों शब्द-शक्तियों से प्रयत्नार भलीभाँति परिचित थे और उन्होंने इनका यन्त्रज्ञ उत्तेज भी किया है परन्तु मम्मट इत्यादि भाचार्यों की भाँति उनका विवेचन नहीं किया है ।

वामन सधरा से भी पूर्ण परिचित जान पड़ते हैं । उन्होंने वक्रोक्ति भलकार का सधरा मह माना है, 'सादश्य के कारण से को गई सधरा वक्रोक्ति भलकार मानो जाती है ।^३ उसका उदाहरण यह है —

'उमिमील कमल सरसीनी केरवच निमिमील मुहूर्ताए' । उमीलन और निमीलन नेत्र धम हैं जो सादश्य के कारण सधरा से कमल और औरवो के विशास तथा सकोच को बोधित करते हैं । सधराविद् इस प्रसंग में सधरा के द्वारा भय की सीध प्रतिपत्ति स्वीकार करते हैं ।^४ ये सभी भविष्यतवाच्य ध्वनि के उदाहरण हैं । यहाँ पर सांख्यिक भय की ओर तो भाचार्य का ध्यान है उसके प्रयोजन की ओर नहीं । सधरा के प्रयोजन में ही ध्वनि होती है । इसी को डा० नगेन्द्र ने भान-दवधन की पूर्व-सूचना स्वीकार किया है ।^५ यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है ।

वामन के 'साद गुणों' में वण ध्वनि का संकेत है, 'भयगुण' भोज के अन्तर्गत भय-श्रीद्धि के कई रूपों में भी ध्वनि की प्रच्युत स्वीकृति है । समास के भेद में केवल निमित्ति वह देने से ही दिवागता का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार 'सामिप्राय विनेपण' प्रयोग में पर्याय ध्वनि का ही प्रकारांतर से वण है । भयगुण कालि में तो असलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही ।^६

वामन के भय गुणों के मूल में रस—ध्वनि का भावात्मक सौन्दर्य विद्यमान है । उनके उदारता, सीकृमाय, समाधि और भोज के अनेक रूपों में सधरा-व्यजना का चमत्कार है ।^७

१ तदि जमिनीया जानति । वयन्तु लभ्यसिद्धौ सिद्ध परमत्वानुवादिन । वृत्ति, का० सू० वृ०, ५ १ १७

२ The secondary meaning became well established in the time of Amar Singh, The Journal of the University of Gohati V X 59
"A critic on India as known to Panini"

३ सादस्यास्तसधरा वक्रोक्ति । का० सू० वृ०, ४ ३ ८

४ सधरायाच अटित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यभाचसात इति । का० सू० वृ०, ४ ३ ८
की वृत्ति ।

५ का० सू० वृ० की हिंदी टीका की भूमिका, पृ० २५

६ वही, भूमिका, पृ० १८४

७ नगेन्द्र का० सू० वृ० की हिंदी टी० की भूमिका, पृ० ४६

आचार्य ने अभिवेयाध के दो भेद माने हैं व्यक्त और सूक्ष्म ।^१ इनमें व्यक्त और स्पष्ट सर्व जनसवेद्य अथ हो है, और सूक्ष्म सहृदयमात्रसवेद्य । सूक्ष्म अर्थ वे दो भेद किये गये हैं । भाष्य और २ वासनीय ।^२ भावको की अवधान रूप भावना का विषय होने से 'भाव्य' रस की कोटि का सिद्ध होता है । इसवे उदाहरण में कामधेनु के टीकाकार ने पूणरस स्थिति सिद्ध की है ।^३ वासनीय अर्थ चित की अत्यधिक एकाग्रता से समझ म आता है ।^४ फलत इसका समावेश अवि बक्षितवाच्य व्यङ्ग्य के अन्तर्गत हो होगा । कामधेनु टीका में वासनीय अर्थ के उदाहरण में इसीलिये वस्तु ध्वनि सिद्ध की गयी है ।^५ अविबक्षितवाच्यध्वनि में केवल वस्तु ध्वनि ही होती है । इसलिये प्रव्यय अथवा प्रतीयमान अर्थ से आचार्य वामन को भी परिचित स्वीकार करना पड़ेगा ।

उद्भट और अयगमन व्यापार—उद्भट ने वाच्यालंकार सा० संग्रह ग्रन्थ की रचना की है । इस ग्रन्थ में पूव ग्रन्थों की भांति काव्य का सर्वांग विवेचन नहीं है, इसलिये इसमें शब्दाप्य मन्त्राय एव शब्द-व्यापारों पर विचार करने का अवकाश ही नहीं था । फिर भी यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि आचार्य उद्भट काव्य की साक्षिण एव ग्रन्थ चाक्षता से भली भांति परिचित थे । उक्त ग्रन्थ में शब्द की शक्तियों अथवा व्यापारों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है । ध्वनि के विकास-क्रम में आचार्य उद्भट का महत्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने व्यञ्जना के लिये अव गमन व्यापार नाम स्वीकार (पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण में) किया है जिसकी भांति ध्वनि वादियों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया ।

अट्ट उद्भट ने भामह के वाच्यालंकार पर भामह विवरण नामक टीका लिखी । यह टीका आज अनुपलब्ध है । उसका उल्लेख लोचन में प्राप्त होता है । भामह के 'शब्द-व्यापारोन्मेषाणां' की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है कि 'शब्दों का अभिधान मुख्य अभिधा व्यापार और गुण वृत्ति है ।'^६ इससे स्पष्ट है कि यहाँ तक आते आते शब्दवृत्ति अथवा व्यापारों का विवेचन साहित्य से भी सम्बन्धित हो गया था ।

उपयुक्त ग्रन्थ के अध्ययन से पता चलता है कि आचार्य अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से भलीभांति परिचित थे । वामन और उद्भट दोनों समकालीन थे । वामन को इन शक्तियों का ज्ञान था । उद्भट तो उस पद्धति समा के समाप्ति थे जिसके वाचन सदस्य थे । फलत यह निर्विवाद माना जा सकता है कि उन्हें भी इनका ज्ञान था । उन्होंने अभिधा-शक्ति के लिये रूपक की परिभाषा में श्रुत्या^७ व्याजस्तुति में 'शब्दशक्तिस्वभावेन और पर्यायोक्त में 'वाचकवृत्ति' का प्रयोग किया है । उपयुक्त पद समूहों का अभिधापरक अर्थ उनके टीकाकार प्रतिहरिदुराज को भी भाव्य है । लक्षणा को वह गुण वृत्ति मानते हैं, कारण, गोणी भीमासा में अलग शक्ति मानी जाती थी ।

१ का० सू० वृ० ३२—६

२ वही, ३२—१०

३ कामधेनु टी, पृ० ६१

४ एकाग्रताप्रकपगम्यो वासनीय इति । का० सू० वृ०, ३२—१० की वृत्ति ।

५ कामधेनु पृ० ६२

६ वाच्यालंकार, पृ० १—६

७ शब्दानामभिधानामभिधायापारो गुणवृत्तिश्च । लोचन, पृ० १२

८ श्रुतिरितररायनिष्ठोऽभिधायापार । लघुवृत्ति, प० १२ प० २२

रूपक के लक्षण में गुणवृत्ति का भी उल्लेख है ।^१ रूपा म लक्षणा वा सम्बन्ध रहता है । अतएव यह मानना कि यह लक्षणा व सहकारी हेतुभा से भी परिचित थे, युक्तियुक्त है । पर्यायोक्त के लक्षण म लक्षणा के अतिरिक्त तीन अर्थ शक्तिया का उल्लेख है, जिनमें से अवगमन नामक ध्या पार व्यञ्जना के अतिरिक्त दूसरा नहीं है । उसमें 'वाच्य वाचक वृत्तिभ्या पद प्रयुक्त हैं । इस पद से अवश्य ही आचार्य का मतव्य वाच्यवृत्ति और वाचक वृत्ति दो भिन्न वृत्तियों से है । इनमें वाचक वृत्ति तो अभिधा का ही दूसरा नाम है । वाच्य-वृत्ति से उनका तात्पर्य जिस वृत्ति से या ? स्पष्ट नहीं है । उनके दो टीकाकारों ने वाच्य-वृत्ति को आकाशा सन्निधियोग्यता से ससगमन रूप 'तात्पर्य-ख्या' वृत्ति के समकक्ष स्वीकार किया है ।^२

पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण निम्नलिखित है —

पर्यायोक्त यवयेन प्रकारेणाभिधीयते ।

वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां गूयेनावगमात्मना ॥^३

इस लक्षण म तीन वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख है । वे ये हैं—१ वाच्य वृत्ति २ वाचक वृत्ति एवं ३ इन दोनों से भिन्न अवगम व्यापार । इनमें वाचक-वृत्ति अभिधा और वाच्य वृत्ति तात्पर्यवर्त्तिका वृत्ति है । फलतः अवगम-व्यापार व्यञ्जना ही निश्चित होता है । अभिनवगुप्त, प्रतिहारेंद्रराज और मम्मट के अनेक टीकाकारों ने इसको व्यञ्जना-व्यापार ही स्वीकार किया है ।^४ अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चौथा व्यापार यही है जिसको ध्वनन, चोतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन, आदि नामों से पुकारा जाता है ।^५ यही कारण है कि प्रतिहारेंद्रराज को पर्यायोक्त अलंकार में समस्त ध्वनि प्रपञ्च का अन्तर्भाव करने का साहस हुआ । इस अवगमन-व्यापार को लक्षणा भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि आचार्य लक्षणा के सहकारी हेतुओं से भली भाँति परिचित थे । उन्होंने रूपकादि अलंकारों के स्वरचित लक्षणा में अभिधा लक्षणा, तात्पर्य और व्यञ्जना को भी स्थान दिया है । समासोक्ति, आक्षेप, विरोधोक्ति, पर्यायोक्त, अपहृति आदि अलंकारों में व्यङ्ग्य का समावेश रहता है, इस तथ्य का आचार्य उदभट्ट ने भलीभाँति पहिचाना, और इसीलिए ध्वनिकार ने अलंकार सन्निविष्ट 'व्यङ्ग्य' से ध्वनि को भिन्न सिद्ध करके अलंकार सन्निविष्ट व्यङ्ग्य से

१ गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तत् । वाङ्मालङ्कार सार संग्रह, १—११

२ म वाचक वृत्ति अभिधा विवृत्ति ।

व वाचकस्य मिधायकस्या स्वशब्दस्य वृत्तिर्यापारो आचार्यप्रत्यायनम् ।

— लघु वृत्ति, पृ० ५५ प० १३

३ का० सा० स०, ४, ६

४ अतएव पर्यायेणप्रकारातरेण अवगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षित । लो० पृ० ४६

व एव विषयस्य यो वाच्यवाचकयो र्यापारस्तत्रातरेणापि प्रकारातरेणार्थसामान्यत्वेन वगमस्वभावेन यदवगम्यते । लघु वृ०, पृ० ५५ प० १६

स अवगमन-व्यापारेण व्यञ्जनारूपव्यापारेण । वामन भट्टाचार्य, पृ० ६८०

५ तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणा अतिरिक्ते चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननं चोतनं व्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिभ्योऽप्यपदेनानिरुद्धितोऽभ्युपगम्यतव्य ।

— लो०, पृ० २१

से युक्त काव्य को गुणीभूत-व्यंग्य की कोटि में स्थान प्रदान किया। इस प्रकार आचार्य उद्भट के समय तक साहित्य शास्त्र में अवगमन-व्यापार, व्यञ्जना व्यापार की ओर भी काव्यशास्त्रियों का ध्यान पहुँच गया था।

केवल संस्कृत—काव्यशास्त्र में ही नहीं अपितु ध्वनि सिद्धांत के प्रतिपादन में भी आचार्य उद्भट का उल्लेखनीय योगदान है।

रुद्र के काव्यालंकार में ध्वनि संकेत—काव्यालंकार में भी वाच्याय से भिन्न प्रतीयमान अर्थ की सत्ता स्पष्ट सिद्ध होती है। उन्होंने अभिवेयेतर का संकेत अधिकतर, प्रतीयते, गम्यते, गमयेत् आदि पदों से किया है।

रुद्र की वक्रोक्ति विषयक धारणा भामह, दशो से नितान्त भिन्न है। भामह इत्यादि पूर्वाचार्यों की वक्रोक्ति का क्षेत्र विस्तृत था, रुद्र ने उस क्षेत्र को संकुचित करके अलंकार मात्र तक सीमित कर दिया। उन्होंने वक्रोक्ति के दो भाग किये हैं १ श्लेष वक्रोक्ति और २ काकु वक्रोक्ति श्लेष वक्रोक्ति में श्लिष्ट शब्द की सहायता से दूसरा अर्थ निकलता है परन्तु काकु वक्रोक्ति में “कठध्वनि” अथवा उच्चारण विधि से ही प्राकरणिक अर्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत होता है। परवर्ती आचार्य ने वक्रोक्ति को रुद्र के अनुसार ही माना और काकु की सहायता से भिन्न प्रतीत होने वाले अर्थ को ‘काकवासिष्ठ’, व्यंग्य स्वीकार किया है।^१ केवल राजशेखर ने काकु के अलंकारत्व को मान्यता नहीं दी है। बैसे उसे काव्य का जीवित तक स्वीकार कर डाला है।^२ काव्यालंकार में काकु-वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार है जहाँ पर (काव्य में) स्वर विनोष (कठ ध्वनि विशेष) से स्फुट उच्चार्यमाण पदादि से अश्लिष्ट (कल्पना रहित) अथवा बिना विशेष लीचतान किये हुये अर्थांतर प्रतीति होती है उसे काकु वक्रोक्ति कहते हैं।^३

काव्यालंकार में अर्थालंकारों को चार भागों में विभक्त किया गया है १ वास्तव २ भोष्य ३ अतिशय ४ श्लेष।^४ वास्तव कोटि के अलंकारों में ‘भाव’ नामक अलंकार भी माना गया है। इस अलंकार के दो लक्षण और दो उदाहरण इस ग्रंथ में उपयुक्त हैं। उनमें प्रथम—

“जहाँ किसी अनेकात्मिक हेतु के द्वारा किसी व्यक्ति में विकार (मुखमालि-यादि) उत्पन्न होता है तथा वही विकार अपने और हेतु के कारकाण भाव और विकारवान् व्यक्ति के आंतरिक अभिप्राय का सूचक होता है वहाँ भाव अलंकार होता है।”^५

१ वक्रोद्बोधक्याङ्कनां वाक्यवाच्याम्यसन्निधे ।

यौऽप्यस्यायापधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ का० प्र०, ३ २१—२२

काकुध्वनेर्विकारः । वही

२ अथकाकुवृत्तोलोके व्यवहारो न केवलः ।

वास्तवेष्वप्यस्य साम्राज्यं काव्यस्याप्येवजीवितम् ।—काव्य भीमासा ।

३ अर्थांतरप्रतीतिप्रज्ञासौ काकुवक्रोक्तिः । काव्यालंकार, २—१६

४ काव्यालंकार ७ ६ अर्थस्यालंकारा वास्तवभोष्यमतिशय श्लेष’ ।

५ यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।

गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ । का० ल०, ७ ३५

इसके उदाहरण में रूद्र ने एक आर्या दी है जिसका अर्थ यह है, 'किसी ग्रामतरण को नववज्रुलमजरी हाथ में लिये हुये देखने वाली तरुणी की मुख कान्ति अत्यन्त मलिन हो जाता है' ।^१ वास्तव में ग्रामतरण को, जो उसका उपपति है इस तरुणी ने रति हेतु वज्रुल-कुंज में मिलने का संकेत कर दिया था । परन्तु वह गृहकाय अथवा विस्मृति आदि कारणों से संकेत स्थल पर पहुँच न सकी, ग्रामतरण वहाँ पहुँचा और विप्रलम्ब वहाँ से वज्रुल मज्जुल-मजरी हाथ में लेकर उसको स्मृति दिलाने उसके घर पहुँचा । उसको उस प्रकार देखकर हार्दिक क्षिप्रता से उसकी (तरुणी) मुख कान्ति मलिन पड़ गई । मुख मलिन छाया ही सहृदय को इस समस्त सदर्भ की सूचना देती है । काव्य प्रकाश एवं अलंकार-शेखरकार ने यही आर्या मध्यम काव्य के उदाहरण में दी है और वज्रुल कुंज में दत्त संकेत तरुणी नहीं गई' आदि गुणीभूत व्यंग्य स्वीकार किया है ।^२

दूसरे भाव का लक्षण—“जो वाक्य अपने वाच्यार्थ का प्रतिपादन करते हुये वक्ता के अभिप्राय रूप अर्थ विलक्षण प्रकृत्याय के विधि निषेध के भिन्न-अर्थ का अवगमन कराता है, वह वाक्य दूसरा भाव नामक अलंकार है ।”^३

उदाहरण—स्वयंदूती पथिक से कहती है इस गृह में मैं भवेली तरुणी अवलोकित, गृहस्वामी विदेश गये हैं, बेचारी यह सास अधी और सहिरी है, मूर्ख पथिक मेरे घर में रात्रि निवास चाहते हो' ।^४ इस वचन से आभासत तो निवास निषेध की प्रतीति होती है परन्तु तरुणी, मूढ़ आदि पक्षों पर विचार करने से प्रकृतार्थ निषेध से विलक्षण विधिरूप अर्थ की प्रतीति होती है ।

भाव का प्रथम लक्षण और द्वितीय उदाहरण लोचन में उद्धृत है ।^५ लोचनकार ने इसमें गुणीभूत व्यंग्य स्वीकार किया है ।

पर्याय का लक्षण उनके इस भाव लक्षण से मिलता-जुलता है । अर्थ आचार्यों की भाँति पर्याय में उहीने अर्थांतर को सत्ता स्वीकार की है । यह अर्थ व्यंग्य ही है ।

इसी प्रकार परिसरया, गम्योपमा, समाधोक्ति, अ-धोक्ति एवं वाक्यभूलक अर्थश्लेष अर्थकारों में रूद्र को अर्थांतर प्रतीति माय है । इनमें से गम्योपमा और समाधोक्ति के लक्षणों का उल्लेख व्यंग्यार्थ की मायता की दृष्टता के लिये किया जाता है ।

१ ग्रामतरण तरुण्या नववज्रुलमज्जरीसनायकरम ।

पशत्या भवतिमुहुर्नितरा मलिना मुखच्छाया ॥ का० ल०, ७ ३६

२ अत्र वज्रुलकुंजे दत्तसंकेता तरुणी न गतेति ।

व्यज्यते । तच्च गुणीभूत । अलंकार-शेखर, पृ० ११ एवं काव्यप्रकाश-हरिमगल मित्र, पृ० ६ ।

३ अभिप्रेयमभिदधान तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम ।

अर्थांतरमवगमयति यदा वाक्य सोऽपरो भाव । का० ल० ७ ४०

४ एकाकिनी यदवना तरुणी तपाहमस्मिष्टे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।

विधाचये तदिह वासमिय वगकी स्वयंभूमाधवधिरा ननु मूढ पाप ॥

—वही, ७ ४१

५ लोचन, प० ३३

गम्भोपमा स सुप्रसिद्ध साधारण धम तद्वाची पद के प्रयोग के अभाव में प्रतीत होता है।^१ वाचक के प्रयोगाभाव में प्रतीति व्यर्थ ही है।

समासोक्ति—‘जहाँ पर सभी समान विशेषणों से वर्ण्यमान उपमान केवल उपमेय की प्रतीति कराता है वहाँ समासोक्ति नामक असकार होता है।’^२ उदाहरण में सुवृक्ष का वर्णन शब्दों से किया गया है अतएव वाच्य है परन्तु इससे उपमेयभूत सत्पुरुष की प्रतीति व्यञ्जना से ही हो सकती है। वक्ता को सत्पुरुष ही अभीष्ट भी है।^३

अर्थश्लेष—

रुद्रट ने अर्थश्लेष का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया है और उसके कई भेदोपभेद किये हैं। शुद्ध अर्थश्लेष के ये भाग हैं १ अविवेच, २ विरोध, ३ अधिक, ४ वक्र, ५ व्याज, ६ असम्भव, ७ अवयव, ८ तत्त्व, ९ विरोधाभास और १० सखिलिप्त। अर्थ श्लेष के अगणित भेद हो सकते हैं, अतएव उनका उल्लेख नहीं किया गया है। शुद्ध अर्थश्लेष के उपयुक्त भेदों में से व्याजश्लेष एवं विरोधाभास परवर्ती आचार्यों के व्याज-स्तुति और विरोधाभास नामक असकार ही हैं। रुद्रट द्वारा उपयुक्त व्याजश्लेष का उदाहरण ध्वनि के उदाहरणों में स्थान पा सकता है।^४ उसके अविवेच, वक्र एवं उक्तिश्लेष में असकारक व्यर्थ सखिलिप्त हैं। कदाचित् अर्थश्लेष के इस विस्तार को देखकर ही जयरथ ने श्लेषवादिता की ध्वनि विरोधियों में गणना की थी।^५ और ध्वनिकार ने श्लेष एवं ध्वनि में अन्तर स्पष्ट करके भ्रम को दूर किया था।^६

अग्निपुराण और ध्वनि—

अग्निपुराण के समय एवं उसकी विषय—सामग्री के सम्बन्ध में मतभेद है। पुराण सग्रह प्रायः प्रतीत होता है।^७ इसको यदि नवम् सतादी के भासपास का सग्रह स्वीकार किया जाता है तो ध्वनि का इस प्रकार प्रभाव स्वीकार किया जायगा इसका ध्वनि पर नहीं। इस समय से पूर्व का सिद्ध होने पर यह प्रायः ध्वनि विकास में एक अदनुत् कड़ी सिद्ध होगी।

अथ के ‘शब्दार्थालंकार’ प्रकरण में ध्वनि का उल्लेख मिलता है। इस प्रकरण के ७ से १६ तक के श्लोकों में अभिधा, लक्षणा एवं ध्वनि का निम्न प्रकार का संकेत है। ‘भाव प्रकटन का नाम अभिव्यक्ति है। इसके दो भेद हैं—श्रुति तथा आक्षेप। ‘श्रुति शब्द से अपना अर्थ प्रकट करती है।’^८ इसका एक भेद पारिभाषिकी भी है जो सकलित अर्थ प्रकट करती है।^९ वस्तुतः यह श्रुति

१ काव्यालंकार, ८—७

२ वही, ८ ६७

३ अत्र तरुवृक्षमान गुणसाधर्म्यात्सत्पुरुषमेव गमयति । नमिसाधु, पृ० ११३

४ काव्यालंकार, १०—१२

५ ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३७६

६ ध्वन्यालोक, पृ० ११६

७ अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग भूमिका, पृ० ४

८ प्रकटत्वमभिव्यक्ति श्रुतिराक्षेप इत्यादि ।

तस्या भेदो, श्रुतिस्तत्रशब्द स्वाथ समपणम ॥ अग्निपुराण, ३४५—७

९ सवेत परिभाषेति तत् स्यात्पारिभाषिकी । वही, ३४५—८

अभिधा ही है। उद्भट ने भी अपने रूप-लक्षण में 'श्रुति' का प्रयोग अभिधा के लिये किया है।

लेखक ने श्रुति का दूसरा भेद नमिसिकी माना है। यह भेद सक्षणा ही है। तदुपरान्त ध्वनि का इस प्रकार उल्लेख है।

श्रुतेरलभ्यमानार्थो यस्मादभाति सचेतन ।

॥ प्राक्षेपो ध्वनि स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यत् ॥^१

'जहाँ श्रुति (अभिधा) से अलभ्यमान जिस अर्थ अथ की सचेतन की प्रतीति होती है, वह प्राक्षेप ध्वनि कहलाता है, क्योंकि इसकी व्यजना (प्रतीति) ध्वनि से होती है ।'

श्री रामलाल वर्मा शास्त्री ने 'श्रुति' का अर्थ 'कर्णोद्दिश्य किया है जो प्रसंग को देखते हुए उचित प्रतीत नहीं होता है। उसका अर्थ 'अभिधा' समझ जान पड़ता है।^२

जिस अर्थ की प्रतीति अभिधा। परिभाषिकी एक नमिसिकी-लक्षणा से नहीं होती है, परन्तु सहृदय को उस अर्थ की प्रतीति होती अवश्य है, उसको ध्वनि कहते हैं। ध्वनिकार ने प्रथम उद्योत में अभिधा एक लक्षणा से ध्वनि को भिन्न सिद्ध करके प्रकारांतर से यही बात कही है। इसमें अर्थ का 'प्राक्षेप' है। विशेष बात इसमें ध्वनि के नामकरण की है। ध्वनिकार का कथन है कि उन्होंने 'ध्वनि' नाम व्याकरणों से ग्रहण किया है। उन्हें अग्निपुराण का श्रृणु स्वीकार करना चाहिये था। दूसरी विशेष बात यह है कि 'ध्वनिना व्यज्यते यत्' का प्रयोग है। 'ध्वनिना' का तृतीयान्त प्रयोग उसके करणत्व का सूचक है। यह स्पष्ट है कि 'ध्वनिना' का प्रयोग 'व्यजना' के अर्थ में 'व्यज्यते' का प्रयोग 'ध्वज्यते' के अर्थ में हुआ है।

अर्थ प्रकार से कही गई बात को 'पर्यायोक्त' कहकर पुराणकार ने 'एवाम्मेकतस्मेव समाल्या ध्वनिरित्यतः^३ कहा है, जिसका अर्थ यह है कि इन प्रकारों में से (श्रुति के भेदों से) एक प्रकार, पर्यायोक्त ध्वनि भी कहा गया है अथवा सभी को सामूहिक रूप से ध्वनि भी कह सकते हैं।

यदि अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग को ध्वनिकार का पूर्ववर्ती स्वीकार किया जाता है तो यह निस्संदेह सिद्ध होता है कि ध्वनिकार के काव्य के लिये पुराणकार ने यथेष्ट साम प्रशस्त कर दिया था। ध्वनि का उत्तरवर्ती मानने पर इसका मूल्य समाप्त हो जायगा।

आनन्दधन और उनका सिद्धांत—

ध्वनि स्वरूप—ध्वनि पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य सिद्धांतों की परीक्षा करके यह दिखाया जा चुका है कि व्यंग्य अर्थ की रमणीयता का आभास उनका था परन्तु वे सिद्धांत उसका प्रतिपादन न कर सकें। इसका सिद्धांत प्रतिपादन सब प्रथम आनन्दधन ने ही किया। इसमें सन्देह नहीं है कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता और रमणीयता के प्रतिपादन की प्रेरणा आचार्य आनन्दधन को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों और महाकवियों के काव्या से ही मिली। 'समाप्तात् पूव' से उन्होंने इसी कृतकता का ज्ञापन किया है। इसका 'ध्वनि' नाम उन्होंने व्याकरणों से ग्रहण किया जसाकि उन्होंने स्वीकार भी किया है।^४

१ अग्निपुराण, ३४५—१५

२ अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० ७६

३ अग्निपुराण, ३४५—१६

४ ध्वन्यालोक, पृ० ५५

भाचार्य ने ध्वनि-स्वरूप का निरूपण करने से पूर्व ध्वनि विरोधियों की कल्पना की है। वे हैं १ अभाववादी २ भक्तिवादी और ३ भलक्षणीयतावादी। इन तीनों की उद्भावना करके उन्होंने खटन भी किया है। इनमें प्रथम अभाववादी पक्ष विषयमूलक, द्वितीय भक्तिवादी सदेहमूलक और तृतीय भलक्षणीयतावादी अज्ञानमूलक हैं। प्रथम ध्वनि का स्पष्ट विरोध करता है, दूसरा सदेहवादी उसकी ईषत्स्वीकृति प्रदान करता है और तीसरा केवल उसका लक्षण करने में असमर्थ है।

अभाववादी और भलक्षणीयतावादी पक्ष का उल्लेख करते समय परोक्ष भूत की क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। अतएव वे दोनों सम्भावित पक्ष हैं और भक्तिवादी पक्ष का उल्लेख वर्तमान की क्रिया से है। अतएव वह प्रबलमान भाचार्यों की ओर संकेत करता है। इसी लिये लोचनकार ने उसमें भामह, उद्भट आदि के मत को ग्रहण किया है। इसका यह तात्पर्य बदायि नहीं है कि ये पूर्ववर्ती भाचार्य ध्वनि का विरोध करते हैं जबकि उनकी कृतियों में व्यंग्याप के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया है कि काव्यो भ गुणकृति से व्यवहार दिखाने वाले (भट्ट उद्भट और भामह) ने ध्वनिमाग का थोड़ा सा स्पष्ट करके उसका स्पष्ट लक्षण नहीं किया।^१ उद्भट और भामह के सिद्धान्तों में ध्वनि का अन्तर्भाव न हो सके इसलिये इस भक्तिवादी पक्ष की कल्पना की गई है।

अभाववादी पक्ष के भी तीन विवरूप हो सकते हैं १ प्रसिद्ध-अभाव, २ रमणीयता का अभाव और ३ अन्तर्भाव का अभाव। प्रथम प्रकार के अभाववादी कह सकते हैं कि काव्य में शब्द और अर्थ के चाकत्व हेतु भलकारा, सघटना घमगुणों और इन्हीं दोनों में अन्तर्भूत होने वाली उष्णतागिरिकादि वस्तियों और वैदर्भी आदि रीतियों के अतिरिक्त कोई अर्थ सौंदर्य हेतु प्रसिद्ध ही नहीं है।^२ अतएव इनके अतिरिक्त ध्वनि कोई सत्व नहीं हो सकता है। १ दूसरे प्रकार के अभाववादी कह सकते हैं कि जितने काव्यमाय प्रसिद्ध हैं उन्हीं में सौंदर्य रहता है, उनके अतिरिक्त माग में सौंदर्य न रहने से काव्यत्व भी न रह सकेगा। यदि कुछ सहृदयों की कल्पना कर सौंदर्य और भावना का सम्भाव स्वीकार भी किया जायगा तो वह सभी विद्वानों की उस रूप में न होगा।^३ तीसरे प्रकार के अभाववादी कह सकते हैं कि यदि ध्वनि-माग कमनीयता का अतिप्रमण नहीं करता तो उसका अन्तर्भाव प्रसिद्ध गुण भलकारादि में हो जायगा। फिर उनमें से ही किसी का नया नाम रख लेना व्यर्थ होगा। उनकी दृष्टि में यह ध्वनि प्रवादमात्र है।^४

भक्ति की व्युत्पत्ति चार प्रकार से की जा सकती है। सभी व्युत्पत्तियों के अनुसार भक्ति शब्द से आलंकारिकों की लक्षणा और भीमासको की गौणी, दो प्रकार की शब्द शक्तियों का ग्रहण होता है। इनसे प्राप्त होने वाले लक्ष्य और गौण, दोनों अर्थ भक्ति से ग्रहण

१ अनुश्रुत्या वृत्त्या काव्येषु व्यवहार दक्षयता ध्वनिमागो मनाक् स्पष्टोऽपि न लक्षित इति ध्वन्यालोक, पृ० १२।

२ ध्वन्यालोक पृ० ७

३ वही, पृ० ८

४ वही, पृ० १—१६

होने हैं। यह भक्तिवादी पक्ष ध्वनि का स्पष्ट विरोधी नहीं है। यदि विचार करके देखा जाय तो इसमें ध्वनि की इष्टस्वीकृत सन्निहित है। कारण लक्षणा के प्रयोजन में ध्वनि रहती है।

भक्तिवादों का मुख्य व्यापार अभिधा के अतिरिक्त एक गुणवृत्ति नामक प्रमुख व्यापार भी मानता है। उद्भट ने भामह विवरण में भामह के 'अभिधानाथ' की व्याख्या में 'मुख्य अभिधा व्यापार और गुणवृत्ति प्रमुख व्यापार माना है।^१

अतएव यदि ध्वनि मुख्य व्यापार अभिधा के अतिरिक्त कोई प्रमुख व्यापार है तो उसका ग्रहण गुणवृत्ति से हो जायगा। कारण, ध्वनिकार ने भी उस सहृदय श्लाघ्य ग्रन्थ के दो भेद स्वीकार किये हैं। अग्निपुराण में अभिधा के पारिभाषिकों और नमित्तिकी दो भेद किये हैं। उनकी नमित्तिकी लक्षणा ही है। इसलिए लक्षणा में अन्तर्भाव हो जाने के कारण ध्वनि की प्रत्यक्ष व्यापार मानना इनकी अभीष्ट नहीं है।

ध्वनि के प्रलक्षणीयतावादी विरोधी अतः करण से ध्वनि सम्भव स्वीकार करते हैं, वे केवल उस तरह की अनिवार्य मानकर उसका लक्षण निश्चित करने में प्रयत्न हैं। ये ध्वनि के साक्षात् विरोधी नहीं माने जा सकते।

ध्वनिकार इन तीनों विरोधी पक्षों की अवतारणा करके ध्वनि का स्वरूप निर्दिष्ट करते हैं। कारण, सम्पूर्ण सत्त्वाध्या के परमरहस्य भूत अत्यन्त रमणीय उस तरह का रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में सचित्र सन्निवेश है। उस सहृदय श्लाघ्य काव्यात्मा ग्रन्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं।^२ अथ तो तीन प्रकार का होना है वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। गुणवृत्ति के रूप में ध्वनिकार को भी तीसरा-लक्ष्य अथ मान्य है। फिर उसका प्रत्यक्ष भेदा में क्यों नहीं गिना? उसका कारण यह जान पड़ता है कि वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य को आधारभूमि है और व्यंग्य वाच्य की आत्मा है। यह अर्ध भेद प्राच्य की दृष्टि से है। ये दो अर्ध ही प्रधान हैं एवं लक्ष्य और व्यंग्य का आधार होने के कारण और दूसरा चारुता की दृष्टि से प्रधान होने के कारण।

प्रतीयमान अर्ध वाच्य से निरन्तर भिन्न है, वह तो महाकविता की वाणी में काव्य के प्रसिद्ध सादार्थ-शरीर से उसी प्रकार भिन्न प्रतीत होता है जिस प्रकार स्त्रियों का लावण्य। वह समस्त प्रत्यक्षों से वृक्ष प्रतीत होता हुआ जिस प्रकार सहृदयों के लोचनों की शीतल करता है, उसी प्रकार वाच्य समता को वह अर्ध आह्लादिन करता है।^३ अतियोगों में आन्तरिक कानि की भाँति प्रमा में जो तरलत्व प्रतीत होता है उसे लावण्य कहते हैं। 'ध्वनि साद' की व्युत्पत्ति पाँच प्रकार से होती है।^४

१—'ध्वनति इति ध्वनि व्युत्पत्ति वाच्य शरीर शब्दाध्य से सम्बन्धित है।^५ सहृदयश्लाघ्य ग्रन्थ के जो वाच्य और प्रतीयमान भेद किये हैं उनमें से वाच्य वा ध्वनि के अतगत ग्रहण इसी व्युत्पत्ति से होता है। वाच्य से वाचक शब्द को सहकारिता के कारण ग्रहण किया जाता है।

१ शब्दानामभिधानमभिध्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च। लोचन, पृ० १२

२ ध्वन्यालोचन, कारिका, २

३ यही कारिका ४

४ लोचन, पृ० ३६, नगेंद्र भूमिका, पृ० २८, वाच्यालोचन रामानुज, पृ० २००

५ आदौऽप्येव व्यंग्यो वा ध्वनयते इति। लोचन, पृ० ३६

२—‘ध्वन्यते इति ध्वनि’ व्युत्पत्ति से त्रिविध प्रतीयमान अथ ध्वनि कहलाता है। यही काव्य की आत्मा है। रसादि अथ ध्वनि की भी आत्मा हैं। उही दोनों व्युत्पत्तियों को ध्यान में रखकर ध्वनि की भूमिका में आचार्य ने अथ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किये हैं।

प्रतीयमान अथ तीन प्रकार का होता है १ वस्तुमान, २ अलंकार और ३ रसादि। इनका विस्तृत विवेचन अवसर पर होगा। यह अथ अपने तीनों रूपों में वाच्य से सदा मिश्र होता है। कही वाच्य विधि रूप है तो वह प्रतिषेध रूप, कही इसके विपरीत कही विधि प्रतिषेध मिश्र रूप और कही मिश्र विषयगत प्रतीत होता है। द्वितीय, अलंकार ध्वनि भी वाच्य अलंकार से भिन्न है। रसादि ध्वनि तो वाच्य से विभिन्न है ही। कारण, जब रसादि स्वसंनिवेदित होते हैं तब एक तो रसादि की प्रतीति नहीं होती है और दूसरे स्वसंवाच्यत्व दोष भी माना जाता है। रसादि की प्रतीति स्वसंवाच्यत्व के अभाव में विभावादि के द्वारा ही होती है। हाँ, उसकी प्रतीति वाच्य के साथ ही होती है। वह वाच्याय की सामर्थ्य से आश्रित होता है। वह शब्द व्यापार का विषय नहीं है।

वह रसादिरूप प्रतीयमान अथ ही इतिहास और स्वानुभव से काव्य का सवस्व सिद्ध होता है। श्रौचमियुक्त के वियोमोत्पन्न शोक के रूप में वही अथ प्राचीन काल में आदि-कवि वाल्मीकि के मुक्त से काव्यरूप श्लोक में निहित हुआ था।^१ रस का यह प्राधाय इतिहास प्रसिद्ध है। केवल ध्याकरण से शब्दाय सम्बन्ध मात्र जान लेने से ही उस अथ को जानने की क्षमता नहीं आती है, वह वाच्याय तत्त्वना को ही प्रतीति हानी है।^२

इस प्रतीयमान अथ को व्यक्त करने की शक्ति से मुक्त कोई विरोध नहीं है। शब्दमात्र में उसको अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है। इही का काव्य में प्राधाय है अतएव महाकवि को उनकी पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये।^३ फिर भी वाच्य-वाचक का प्रथम उपादान व्यर्थ नहीं है क्योंकि व्यङ्गाय की प्रतिपत्ति वाच्यायपूर्विका होती है और वह वाच्याय पदार्थ से उसी प्रकार प्रतीत होता है जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से अंधकार में स्थित वस्तु।^४ जिस प्रकार वाच्याय के प्रकाशित होने पर पदार्थ विभावना समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार महदय की तत्त्वदर्शिनी बुद्धि में उस व्यङ्गाय की शीघ्र प्रतीति होने पर वाच्याय घात हो जाता है।^५

३—ध्वनि की अधिकरण प्रधान व्युत्पत्ति ध्वन्यते-स्मिन्निति ध्वनि से काव्य विनाय का ग्रहण होता है। इस काव्य विरोध में व्यङ्ग्य शब्दार्थ गुणोन्मूल होकर उस प्रतीयमान अर्थ को प्रति व्यक्त करते हैं।^६

यहाँ तक ध्वनि के तीन व्युत्पत्तिपरक अर्थों में ध्वनि का सम्भाव और उसकी प्रधानता सिद्ध

१ ध्वन्यालोचन, पृ० १८—३१

२ ध्वन्यालोचन, १—५

३ वही, १—७

४ वही, १—८

५ वही, १—९—१०

६ वही, १—११—१२

७ वही, कारिका १३

की गयी। वरुणपरक व्युत्पत्ति में व्यञ्जना शक्ति को ग्रहण किया जाता है। व्यञ्जना की अभिधा तथा लभणा से भिन्नता अग्रे अध्याय में प्रदर्शित की जायगी। व्यञ्जना ही चतुर्थ व्यापार है। इसी की सहायता से ध्वनीप्राप्ति की प्राप्ति होती है।

इसके बाद उन्होंने विरोध—विवल्पा का समाधान किया है। सब प्रथम अभाववाद की दृष्टि से तीन विवल्पा किये थे १ प्रसिद्धि अभाव २ रमणीयता भाव ३ अन्तर्भाव अभाव। ध्वनि केवल वाक्य लक्षण-कारी के लिये ही अप्रसिद्ध रही है। लक्ष्य अर्थों की परीक्षा करने पर वही सहृदय हृदयाह्लादकारी काव्यमत्त्व सिद्ध होती है।^१ वह वाक्यमत्त्व सहृदयहृदयाह्लादकारी है अतएव उसमें रमणीयताभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

यह काव्यमत्त्व यदि रमणीयतायुक्त है तो उसका प्रसिद्ध अलंकारादि प्रकारों में अन्तर्भाव ही जायगा, यह अभाववादी पक्ष का तीसरा विवल्प है। यह विवल्प भी असमीचीन है। कारण, वाक्यवाचक भाव पर आश्रित रहने वाले अलंकार माग में 'व्यप्य-व्यञ्ज' आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव क्यों ही सकता है? हमारे वाक्य वाचक वाक्यत्व हेतु उसके अंग हैं, वह अंगी है। जहाँ प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती वहाँ ध्वनि नहीं मानी जायगी। यदि यह कहा जाय कि समा सीविन, आनन्द, पर्यायोजन, अपहर्षादि आदि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव ही जायगा क्योंकि इन अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, यह कथन भी असमीचीन है। कारण, अलंकारों में वाक्यवाचक का प्राधान्य का रहता है और ध्वनि में उनका गौणत्व विकसित है। अतएव अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।^२ यदि पर्यायोक्त (उद्भट सम्मत) में ध्वनि का प्राधान्य स्वीकार किया जाय तो उसका अन्तर्भाव ध्वनि में ही जायगा, ध्वनि का उत्पन्न नहीं। ध्वनि का उसके अतिरिक्त भा विषय है। भामह के पर्यायोक्त में ध्वनि का प्राधान्य नहीं है।^३

इस प्रकार अभाववादी तीनों विवल्पो का निराकरण कर यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि है।

भक्तिवादी पक्ष में भी तीन विवल्प सम्भव हैं—१ भक्ति और ध्वनि की स्वरूप एकता २ भक्ति ध्वनि का लक्षण और ३ भक्ति ध्वनि का उपलक्षण। भक्ति का वाक्यार्थ से नियत सम्बन्ध होता है परन्तु ध्वनि का उसके नियत सम्बन्ध ही नहीं होता है। इसलिए दोनों में स्वरूप भिन्नता है।^४ अव्याप्ति और अति-वाप्ति दोष के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है, और न उसका उपलक्षण।^५ इसका विवृत विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

ध्वनि का सामान्य और विशेष लक्षण प्रतिपादित होने पर अलक्षणीयतावादी पक्ष का

१ ध्वन्यालोक, पृ० ३६

२ वही, पृ० ४०—४१ वृत्ति भाग।

३ वही, पृ० ४६

४ भक्त्या विभक्ति नैवस्व रूपभेदादय ध्वनि। ध्वन्यालोक, १, १७।

५ ध्वन्यालोक, १, १७।

भी समाधान हो जायगा। यदि ध्वनि को अनिवचनीय कहने में अतिशयोक्ति का प्रयोग कर उसके उत्कृष्ट स्वरूप का कथन है तो उचित है।

ध्वनि की मत्ता और उसके स्वरूप के निश्चय के पश्चात् व्यंग्य और व्यञ्जक की दृष्टि से ध्वनिवार ने उसके भेदोपभेद करने का प्रयत्न किया है। व्यंग्य अर्थ की दृष्टि से ध्वनि दो प्रकार की है—१ अविवक्षित वाच्य ध्वनि और २ विवक्षितायपरवाच्य ध्वनि। इनमें स प्रथम में लक्षणा मूलक व्यंग्य की स्थिति होती है और द्वितीय में अभिधा मूलक व्यंग्य की। लक्षणा मूलक व्यंग्य लक्षणा के भेदों की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। एक में अजहत्स्वार्थी लक्षणा की स्थिति होती है और दूसरे में जहत्स्वार्थी की। इनके आधार पर अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। जिस रूप में अजहत्स्वार्थी लक्षणा रहती है उसे अर्थांतर सप्रमितवाच्य नाम दिया जाता है और जिसमें जहत्स्वार्थी लक्षणा रहती है उसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य नाम दिया जाता है।

विवक्षितायपर वाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं—१ असलक्ष्यक्रम व्यंग्य और सलक्ष्यक्रम व्यंग्य। इनमें से असलक्ष्यक्रम व्यंग्य में रस ध्वनि, भाव ध्वनि रस भाव के आभास आदि का ग्रहण किया जाता है। यह रसादि ध्वनि ही ध्वनि की भी आत्मा है। इसी के सम्बन्ध से वाक् लकार और अर्थांतर ध्वनि भी ध्वनि के विषय हो जाते हैं। ध्वनि काव्य में रसादि की प्रधानता का होना आवश्यक है। जहाँ ये रसभाव आदि गौणता प्राप्त कर लेते हैं वहाँ ये रसवत् अलकार माने जाते हैं। काव्य में गुण रसाश्रित माने जाते हैं। गुणों का रसा से नित्य सम्बन्ध है। शृङ्गार करुणा, आदि कोमल रसा से युक्त काव्य में माधुर्य गुण की स्थिति रहती है, रौद्र, वीर आदि रसों में क्रोध और प्रसाद गुण सभी रसा से सम्बन्धित हैं। रस चित्तवृत्ति रूप है। इनमें करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शृङ्गार में चित्त वृत्ति की स्थिति में रहता है, रौद्र, वीर और वीरभक्त में दीप्ति की स्थिति में और स्वच्छता अथवा विस्तृति स्थिति में सभी रसों में रहता है। चित्त की तीन वृत्ति, दीप्ति और विस्तृति स्थितियों की दृष्टि से लम्ब अथवा माधुर्य, क्रोध और प्रसाद गुण मान जाते हैं। यह रसादि ध्वनिरूप असलक्ष्यक्रम यद्यपि स्वगत और परगत भेदों के भिन्न होने के आधार पर अनन्त प्रकार का हो सकता है, परन्तु वह एक प्रकार का ही माना जाता है।

रस निबन्धन का कवि को प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रयत्न में ही जिन अलकारों की योजना स्वतः ही काव्य में हो जाती है, वे ही अलकार साधक हैं। यमक और अनुप्रास का सानुबन्ध निर्वह रस-परिष्कार में बाधक होता है इसलिये रस निबन्धन करने वाले को चाहिये कि काव्य में इनकी योजना करने में समय होने पर भी इनकी योजना नहीं करे।

सलक्ष्यक्रम व्यंग्य में शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल दृष्टि से दो प्रकार का होता है। इनमें से शब्द शक्ति मूल ध्वनि में केवल अलकार ध्वनि ही सम्मिलित है। इस ध्वनि का क्षेत्र श्लेष से नितात भिन्न है।

अर्थशक्तिमूल ध्वनि में आक्षिप्त वस्तु और आक्षिप्त अलकार की दृष्टि से दो प्रकार की है। अर्थ भी स्वतः सम्भव और कवि श्रौतिक सिद्ध दो प्रकार का होता है। इस प्रकार अर्थशक्ति मूल ध्वनि के आठ भेद हो गये।

जहाँ व्यंग्य अर्थ अप्रधान और कम चमत्कार युक्त होता है। वहाँ गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। ध्वनि की दृष्टि से काव्य में मुख्य दो ही भेद हैं। ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में व्यंग्य

अथ को दृष्टि से ही ध्वनि का विभाजन किया गया है। तृतीय में व्यञ्जक दृष्टि से भेद किये गये हैं।

ध्वनि के सभी भेद और उपभेदा में सभी पद व्यञ्जक होता है और सभी वाक्य। असल-दयक्रम में पद और वाक्य के प्रतिरिक्त वण, सघटना और प्रवच को भी व्यञ्जकता हो सकती है। मलदयक्रम व्यङ्ग्य में अथशक्तिमूल ध्वनि में भी प्रवच व्यञ्जक होता है।

वणमाला में अल्पप्राण वण कोमल माने जाते हैं और महाप्राण कठोर। कोमल वणों का प्रयोग शृ गार, विप्रलम्भ और वरण के लिए आवश्यक होता है क्योंकि ये माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं। इन रसों में महाप्राण वणों का प्रयोग होपाधायक होता है। ये महाप्राण वणरौद्र और धीर रस में भोज के व्यञ्जक होने के कारण औचित्यपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार सघटना भी रसों की व्यञ्जक होती है।

सघटना माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रहती है। वण और सघटना से माधुर्य आदि गुणों की व्यञ्जना होती है। सघटना, वक्ता, विषय आदि की दृष्टि से असमासा, दीधसमासा तथा मध्यसमासा होती है।

इस प्रकार ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के स्वर और सगुण्टि के द्वारा अनन्त भेद हो सकते हैं। संक्षेप में यही ध्वन्यालोक का विषय है।

आनन्दवदन ने ध्वनि के प्राविण्यार से रस भीमासा को प्रथमवार ही कलात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया तथा रस और रसास्वदन की मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की। ध्वनि का आविष्कार भारतीय रस भीमासा के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।^१ ध्वनि सिद्धान्त में सभी आलोचना सम्प्रदायों का सम्मेलन हो गया। यहो सबमें महत्वपूर्ण कार्य है।

आचार्य राजशेखर और उनका पात्रु ध्यात—

काव्य भीमासा के प्रणेता आचार्य राजशेखर (८७०-१२०) ध्वनि सिद्धान्त के प्रवक्तव्य आनन्दवदन के परवर्ती आचार्य हैं। काव्य भीमासा का पूरा अर्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए आचार्य की रीति, वृत्ति ध्वनि आदि सम्बन्धी धारणा का निश्चयात्मक पता नहीं है, परन्तु यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि अर्थ के “प्रौक्तिक” अधिकरण में ध्वनि निरूपण होता है। काव्यभीमासा के हिन्दी अनुवादक पंडित वेदरनाथ शर्मा ने अपनी भूमिका में इस मायता की पुष्टि करते हुए लिखा है “रसों और रीतियों के सम्बन्ध में एक एक अधिकरण के प्रतिरिक्त एक प्रौक्तिक अधिकरण भी निरा है। इस अधिकरण में उक्ति सम्बन्ध विचार हैं। सम्भवतः इसमें अभिधा, लक्षणा, और व्यञ्जना सम्बन्धी विचारों की भीमासा की गई है, जो आचार्य आनन्द के ध्वन्यालोक का मुख्य विषय है।”^२

राजशेखर ध्वन्यालोक से परिचित अवश्य थे। ध्वन्यालोक की कवि सम्बन्धिनी अभ्युत्पत्ति उसी रूप में परिकर श्लोक के साथ काव्य भीमासा में उद्धृत है।^३

उनसे पहले आनन्द इत्यादि अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए थे। अर्थ के प्रस्तुत अधिकरण में इन्होंने यथाम्भव सभी आचार्यों से ग्रहण किया है। यथावसर अर्थ मता की आलोचना भी की है।

१ रस और रसास्वदन, पृ० ३२।

२ काव्यभीमासा, हिन्दी, अनुवाद भूमिका, पृ० २७

३ वही, पृ० ३७

यथा वाक् के प्रसंग में छन्द की वाक् यन्नोक्ति अलंकार की।^१ अतएव ध्वनि जैसे प्रसिद्ध साहित्य प्रस्थान को वह अनालोच्य ब्रमे छोड़ देते। सम्भवतः उन्होंने उसका प्रसंग निरूपण 'प्रोक्ति' अधिकरण में किया है जो दुर्भाग्यवश अप्राप्य है।

वाक्यमीमांसा में उक्ति का प्रयोग व्यंग्य चमत्कार के लिए ही हुआ है। इसी उक्ति की स्थिति के कारण ही उन्होंने वाक् के अलंकारत्व का खंडन कर वाच्यजीवित स्वीकार कर लिया है—

अथ काकुत्रुतो लोके व्यवहारो न केवलः ।

सास्त्रेऽप्यस्य साम्राज्ये वाच्यस्याप्येवजीवितम् ॥^२

वाक्य की प्राण यह काकु अर्थात्तर का स्फुटन करने में सतत तत्पर रहती है और सहृदयों की भावना को व्यक्त करती है—

काम विवृणुते वाकुरर्थास्तरमसिद्रिता ।

स्फुटीकरोति तु सना भावाभिनयचातुरीम् ॥^३

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजेश्वर ध्वनि का विरोध करने वाले व्यक्ति नहीं हैं। परन्तु उनके ध्वनि सिद्धान्त समयन के सम्बन्ध में कोई निर्दिष्ट नियम नहीं दिया जा सकता है।

ध्वनि सिद्धान्त का विरोध

चन्द्रिका टीका और ध्वनि विरोध—

ध्वन्यालोक के ध्वनि सिद्धांत का प्रारम्भिक विरोध मौखिक ही रहा। आशाय आनन्द वन्दन ने ध्वनि के बहिरंग विरोधा का उल्लेख करते हुए अपने ममसामयिन किसी मनोरथ कवि का एक छन्द दिया है जिसका आशय निम्नलिखित है—

“जिसमें न तो अलंकार से युक्त मन को प्रसन्न करने वाली कोई वस्तु है, न जो व्युत्पन्न वचनों द्वारा रची गई है और न जिगम यन्नोक्ति है, जड़ लोग उसी काय की, ध्वनि समन्वित कहकर बड़े प्रेम से प्रशंसा करते हैं। नहीं पता यदि कोई पुष्पात्मा उनमें उसका स्वरूप पूछ दे तो वे क्या कहेंगे।”^४

परन्तु ध्वनि सिद्धान्त के लिखित रूप में आने के पश्चात् उसका विरोध भी लिखित रूप में आने लगे। प्रत्येक सिद्धान्त के सम्बन्ध में यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। यह खण्डन मण्डन स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में भी हो सकता है और टीकाग्रन्थों के रूप में भी। व्यक्ति विवेक का खण्डन करने के लिए रसिक ने यत्ति विवेक व्याख्यान नाम की प्रसिद्ध टीका लिखी। इसी प्रकार ध्वनि का साधारण विरोध करने और ध्वनि सिद्धान्त के विपरीत ग्रन्थ का ग्रन्थ लगाने के लिए अभिनवगुप्त के किसी पूर्ववर्ष ने ध्वन्यालोक की 'चन्द्रिका' नामक टीका लिखी। रसिक ने

१ वही पृ० ७५

२ वही, पृ० ७६

३ काम मीमांसा, हिंदा अनुवाद भूमिका, पृ० ७६।

४ ध्वन्यालोक पृ० १०।

इसको ध्वनि विचार का ग्रन्थ स्वीकार किया है।^१ महिमभट्ट की भी यही धारणा प्रतीत होती है। उन्होंने इसका अवलोकन नहीं किया था, इस तथ्य की उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्वीकार किया है। लोचन में “चन्द्रिका” की आतिया का समाधान किया गया है।

मुकुलभट्ट द्वारा ध्वनि विरोध-चन्द्रिका के पश्चात् अभिधावृत्ति मातृका के एणेत मातृल भट्ट ने ध्वनि सिद्धांत का विरोध किया। उन्होंने जबत एक अभिधा व्यापार को ही माना। उन्होंने सापक्षिक ग्रन्थ की भी लक्षणवृत्ति बोध्य न मानकर अभिधा के भीतर ही ग्रहण किया है। बाध्य के लक्षण और अभिधावृत्ति के दस प्रकार से उपयुक्त कथन की पुष्टि होती है। उनका बाध्य लक्षण यह है “शब्द के द्वारा अभिधा व्यापार का आश्रय लेकर जो मुख्य भयवा साक्षणिक ग्रन्थ गोचर होता है उसे बाध्य कहते हैं।^२ इससे स्पष्ट है कि साक्षणिक ग्रन्थ भी आश्रय के मत में बाध्य ही है।^३ ग्रन्थ के अन्त में अभिधा के चार और लक्षण के छ प्रकारों को मिलकर कुल दस प्रकार अभिधा वृत्ति के माने गये हैं।^४ कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वन्यालोक की रचना के पश्चात् भी आश्रय मुकुल ने सभी प्रकार के ग्रन्थों को अभिधा व्यापार बोध्य मानने का साहस किया।

मुकुलभट्ट ने ध्वनि सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए लिखा है, “कतिपय सहृदयो न जिस ध्वनि का नूतन ढंग से वर्णन किया है वह लक्षणा भाग के भवगाहन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।^५ उन्होंने तीन उदाहरण देकर उनका लक्षणा में अन्तर्भाव सिद्ध किया है। इन तीन उदाहरणों में से एक वस्तु ध्वनि, दूसरा अलकार ध्वनि और तीसरा रस ध्वनि का उदाहरण है। इनमें लक्षणा के अतिरिक्त सहायकी हेतुओं का अभाव है अतएव उनका लक्षणा में अन्तर्भाव सिद्ध नहीं हो पाया है। मुकुल का खण्डन मम्मट ने शब्द व्यापार विचार नामक प्रकरण में किया है।

इसके पश्चात् मुकुल भट्ट के शिष्य प्रतिहारदुराज ने ध्वनि सिद्धांत का प्रबल विरोध किया। उन्होंने काव्यालंकारसार ग्रन्थ की टीका लिखी। इसी टीका के अन्त में उन्होंने ध्वनि सम्बन्धी मत दिया है।

आश्रय प्रतिहारदुराज का विरोध—मुकुल ने अभिधा में एक भाग गौणी लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है और उन्होंने पयोक्विन, अतिसयोक्विन आदि अलंकारों में इनका कथन है कि ‘कुछ सहृदय जिस ध्वनि नामक नूतन सिद्धांत की बात की आत्मा धापित करते हैं उसको अलग बाध्य धर्म मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका अन्तर्भाव इन्हीं प्रसिद्ध अलंकारों में ही जायगा। कदाचित् उद्भव न भी ध्वनि का अलग विवेचन इसीलिए नहीं किया है। ध्वनि के तीन भेद माने जाते हैं—१ वस्तुध्वनि, २ अलकार ध्वनि और रस

१ चन्द्रिका, ध्वनि विचारण ग्रन्थ । व्यक्ति विवेक, पृ० ६ ।

२ मुख्यस्थानिधावृत्तस्य प्रकारावत्तारो साक्षणिकस्य तु पक्षित्यव दस प्रकारम् निधावृत्तमत्र विवचिष्यम् । अभिधावृत्ति मातृका, पृ० २१ =

३ शब्देन मुख्य साक्षणिक अभिधाव्यापारमाश्रित्य यद्गोचरोन्नित्यतः तद्वाच्यम् । अभिधावृत्ति मातृका, पृ० १० ।

४ लक्षणाभार्गा वागाहित्व तु ध्वने सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यते तम् । पृ० २१

ध्वनि । इस त्रिविधि ध्वनि भेदों से वस्तु ध्वनि का अतर्भाव पर्यायोनत म हो सकता है और भ्रूलकार ध्वनि का अतर्भाव भी पर्यायोनत अथवा अथ भ्रूलकारो म सम्भव है । रही रस ध्वनि की बात, उसमें से जहाँ रस भाव आदि अंगी होते हैं वे रसवत् भ्रूलकार माने ही जाते हैं और जहाँ वे अंग रूप में चित्रित होते हैं वहाँ द्वितीय उदात्त भ्रूलकार माना जाता है । इनके प्रतिरिक्ता ध्वनि में कोई दूसरी विरोधता नहीं होती है । प्रतिहारे दुराज ने ध्वनि के समस्त भेदों को भी उपयुक्त भाँति से समाय ही सिद्ध किया है । उनकी मायता है कि उद्भट के धतकार प्रपञ्च को विस्तृत रूप प्रदान कर देने के पश्चात् ध्वनि को काव्यात्मा स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है ।^१

प्रतिहारे दुराज के सर्कों का अलग उत्तर देने की ध्वनिवादिया ने आवश्यकता नहीं समझी, कारण, भ्रूलकारिकों की मायनाओं का खण्डन करने पर उनको मायताओं का स्वतः ही खण्डन हो जाता है ।

प्राचाय भट्ट-नायक का ध्वनि विरोध—भट्टनायक ने ध्वनि का खण्डन करने के लिए हृदय दर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की । व्यक्ति विवेक ग्रन्थ के व्याख्याकार हयक ने यही मायता व्यक्त की है ।^२ इसी मायता का समर्थन महिमभट्ट और अभिनवगुप्त ने किया है । महिमभट्ट ने यद्यपि हृदय दर्पण का अवलोकन नहीं किया था, परन्तु उसका नाम बड़े उत्साह के साथ स्मरण किया है क्योंकि स्वयं वह भी ध्वनि का अनुमान में अतर्भाव करने के लिए प्रवृत्त थे । अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में अनेक स्थानों पर हृदयदर्पण के मत को उद्धृत करते उसका खण्डन किया है । लोचन के उद्धरणों से उनके प्रति थोड़ा अवधान भी प्रतीत होती है । ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने के कारण इन उद्धरणों के सकलन से ही प्राचाय के ध्वनि-सम्प्रदायी अभिमत का चित्र मिल सकता है । यहाँ पर दो तीन प्रसंगों का उल्लेख ही अशेष होना ।

उन्होंने कहा था, 'यदि ध्वनि नाम के इस व्यञ्जनात्मक वापार में अभिधा और भावना रसचवणा भेद सिद्ध भी हो जाय तो भी उसका काय में अस्तित्व ही होगा, रूपता नहीं होगी, अर्थात् उस ध्वनि में सम्पूर्ण काय का अतर्भाव न हो सकेगा ।'^३ इसका निराकरण लोचनकार ने इस प्रकार किया है, रस भ्रूलकार और वस्तु भेद से ध्वनि तीन प्रकार की स्वीकार की गई है । उन तीनों भेदों में रसचवर्णा अथवा रस ध्वनि ही काय का प्राण होता है । इस विषय में हयक दर्पण के प्रणेता का भी मतव्य है क्योंकि उन्होंने भी काव्य में एक मात्र रस की प्रधानता मानी है, ज्ञान और उपदेश की नहीं ।^४ ऐसी स्थिति में काय में ध्वनि की रूपता नहीं मानी जा सकती इत्यादि कथन से यही समझा जा सकता है कि अर्थ मानने से उनका (भट्टनायक) का अभिप्राय यह है कि वस्तु और भ्रूलकार ध्वनियाँ अर्थ होती हैं । यदि ऐसा ही है तो इससे ध्वनिकार के मत का ही समर्थन होता है । इससे विपरीत रस को काय का सर्वस्व स्वीकार करने अर्थ मानने पर स्वमत के विरोध के साथ प्रसिद्धि और स्वसंवेदन सिद्ध तत्त्व का विरोध होगा । भट्टनायक के

१ नपुवन्ति पृ० ८५ ६२ ।

२ दर्पणी हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वसग्रन्थ । व्यक्ति विवेक—व्याख्यान, पृ० ६

३ ध्वन्यालोचन तारावती पृ० ६२ ।

४ काव्यरसयितासर्वो न बोद्धा न नियोगमाक । हृदयदर्पण लो० प० १४ ।

उद्धारणा की परीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह ध्वनि को उस तक ही सीमित करने का प्रकार ध्वनि और वस्तुध्वनि का प्रत्याख्यान करना चाहते थे ।^१

वह काव्य में एक मात्र रस की प्रधानता स्वीकार करते हैं । इसका ऊपर उल्लेख हो चुका है । परन्तु रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने भाववृत्त और भोगकृतत्व का भिन्न व्यापार स्वीकार किये हैं । अमित्रव गुप्त ने अपनी टीका में उनसे रस निष्पत्ति विषयक मायता की विस्तृत और धार्मिक मोर्माँसा करने भोग व्यापार का ध्वनि में अन्तर्भाव किया और रस के मुक्तिवाद के स्थान में अमित्रवृत्तवाद की स्थापना की ।

ध्वनिकार में ध्वनि का जो लक्षण किया है उसमें 'व्यक्त काव्य विनोद पद समूह का प्रयोग है । व्यक्त' क्रिया में द्विवचन का प्रयोग है । ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार व्यक्तिविवेक-कार ने इस लक्षण में दम दायी का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया था उसी प्रकार बदायित्व भट्टनायक ने भी इस लक्षण में कतिपय दोष दिखाये हैं । उनमें से क्रिया के द्विवचन को दूषित मित्र करना भी एक दोष रहा होगा । लोचनकार ने भट्टनायक के द्विवचन के लक्षण को गज निर्मोलीका (बिना सोचे समझे खण्डन पर दूट पड़ता) स्वीकार किया है । ध्वनिकार ने लक्षण में द्विवचन का ठीक ही प्रयोग किया है क्योंकि अविवक्षित वाच्य में शब्द व्यञ्जक होता है और अर्थ की उसमें सहकारिता बनी रहती है तथा विवक्षितार्थ पर वाच्य में अर्थ की व्यञ्जकता के साथ शब्द की सहकारिता समाप्त नहीं होती है । शब्द और अर्थ की व्यञ्जकता को समान महत्त्व देने के लिए ही ध्वनिकार ने लक्षण में द्विवचन का प्रयोग किया है ।^२

ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वन्यालोक में उद्धृत पद्या की भट्टनायक ने अपने अनुसार व्याख्या करके भी ध्वनि का खण्डन किया । लोचनकार ने यत्र-तत्र पद्या की ध्वनिपरक व्याख्या करते हुये भट्टनायक की व्याख्याओं का निराकरण किया है । ध्वन्यालोक में—

धार्मिक निमय तोडिय गोदा कुज स फूल ।

हत्थी वही के सिंह ने कूकुर तब भय भूल ॥^३

उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है । आचार्य ने यहाँ पर सिंह आदि वस्तु ध्वनि का और धार्मिक इत्यादि पदों के प्रयोग में भयानक रस के आवेष्ट से उद्धूत निषेध की प्रतीति मानी है^४ और वस्तु ध्वनि में दोष दिखाते हुए इसमें रस की अनुप्राहता स्वीकार की है ।^५ अमित्रव गुप्त ने भयानक रस के स्थाना में शृंगार सिद्ध किया है जो उचित ही है । भट्टनायक ने भी कदाचित् भ्रमण निषेध की प्रतीति के लिए ही भयानक रस का उल्लेख किया है । वस्तु ध्वनि रसानुप्राहता के सम्बन्ध में उनकी खिल्ली उड़ाते हुए लोचनकार ने लिखा है, 'यह ध्वनि का

१ हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोपेटिक्स पी० वी० वाणे, पृ० २२३-२२४ ।

२ तेन भट्टनायकेन द्विवचन दूषितम् तद्वर्जननिमीवियम् । ध्व० ता०, पृ० १८६ ।

३ अत्र धार्मिक विषयवद् इत्यादि, ध्वन्यालोक, पृ० १६ ।

४ यत् भट्टनायकेनोक्तम्—दृष्टव्यसिंहादिपद प्रयोगे च धार्मिक पद प्रयोगे च भयानकरसावेशकृतव निषेधावगति । ध्व० ता०, १२५ ।

५ किं च वस्तुध्वनि दूषयता रसध्वनि स्तानुप्राहक समर्थते । ध्व०, पृ० १२७ ।

प्रच्छा खण्डन हुआ। श्रीमान का श्लोच भी हमारे लिए वरदान के समान है। यदि उनकी रसा नुप्राहकता का तात्पर्य रस की प्रधानता से है तो यह हमारे पक्ष का ही समर्थन है। आक्षेपवर्त्तक भटटनायक की दृष्टि में यदि यह वस्तुध्वनि का उचित उदाहरण नहो, तो वाच्य का उदाहरण होने के कारण दोनों ध्वनियों भटटनायक की दृष्टि से रसनुप्राहकता और ध्वनि की दृष्टि से वस्तु ध्वनि का उदाहरण मानने में कोई दोष नहीं है।

ध्वनि के तीव्र प्रबल विरोधियों भटटनायक, कुत्तक और महिमभट्ट की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही कि वे वाच्य में रस की प्रधानता का विरोध न कर सके। ध्वनि के समर्थकों के लिए उनकी यही मायता सबसे बड़ा बल था।

महामहोपाध्याय पी० बी० बाणे के अनुसार भटटनायक ध्वनि के उन विरोधियों में परि गणित होते हैं। वह उन लोगों के श्रेण में थे जिनको ध्वन्यालोच में ध्वनि के तत्त्व को कभी वाणी का विषय ही स्वीकार न करने वाला माना गया है।

धनञ्जय और धनिक का ध्वनि विरोध—

दशरूपक की कारिकाशास्त्री रचना धनञ्जय न की है और उस पर अवलोक नामक वृत्ति की रचना उनके भाई धनिक न की है। दोनों ही भाई अभिहिताययवादी भट्ट सीमासक्तों से प्रत्यक्ष प्रभावित हैं और उनकी भाँति गुरु की केवल तीन ही वृत्तियाँ मानते हैं। ये दोनों भाई शब्द की चतुर्थ शक्ति व्यञ्जना के भट्टर विरोधी हैं। उन्होंने रस-बोध भी तात्पर्या शक्ति से ही स्वीकार किया है।

ध्वनिवादी आचार्य रस-बोध केवल व्यञ्जना से ही स्वीकार करते हैं इसलिए व्यञ्जना का खण्डन करने के लिए अवलोककार धनिक ने पहले ग्राह्य दखन और अभिनवगुप्त का सिद्धान्त सारांश प्रवचन के रूप में प्रस्तुत किया है और तत्पश्चात् उससे प्रभावित सिद्ध करके यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि रस बोध भी तात्पर्या शक्ति से हो सकता है, अवलोक और वस्तु बोध को तो ध्वनिवादी भी वाच्य स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ पर पूछ पडा कि उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। केवल उत्तर पडा कि सारांश ही नीचे दिया जाता है।

लौकिक वाक्यों में दो प्रकार के पदा का प्रयोग होता है, एक वाचक पद, दूसरा श्रिया पद। इसी को वैयकरणी ने क्रमशः शिष्ट और साध्य नाम दिया है। साध्य को विधेय भी कहा जाता है। वाच्य का तात्पर्य अथवा वाक्यार्थ साध्य ही है शिष्ट नहीं। फलतः श्रिया में ही वाच्य का तात्पर्य निहित होता है। इस वाक्यार्थ प्रकाशनी श्रिया के वाचक शब्द वाच्य में मौजूद भी रह सकते हैं और नहीं भी। जहाँ पर श्रिया का वाचक पद है वहाँ श्रिया वाच्य ही होगी और प्रत्यक्ष प्रवरणा की सहायता से श्रिया बुद्धिस्थ रहगी। इन दोनों ही स्थान पर श्रिया ही वारणा द्वारा पुष्टि होकर वाक्यार्थ का रूप धारण करेगी। इसका स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण लें। प्रथम तुम गाय ल जाओ। इस वाच्य में 'ल जाओ' श्रियापद है जो 'ने जाना' श्रिया का वाचक है। यह वाच्य श्रिया ही 'तुम' और गाय वारणा से पुष्ट होकर वाक्यार्थ का रूप में परिणित होती है। यह वाक्यार्थ ही वक्ता का तात्पर्य अथवा अभीष्ट अर्थ है। यन्ना यही कहना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष लौकिक वाक्यों में वाच्य श्रिया ही वाक्यार्थ का रूप धारण करेगी। दूसरा वाच्य वह हासना है त्रिम श्रिया प्रथम वाच्य की भाँति व्यूयमाण न होगी। यथा द्वार द्वार इस वाच्य में श्रिया के लिये वाचक पद नहीं है। यहाँ पर वक्ता वाच्य में श्रिया का वाचक पद का प्रयोग नहा

कर रहा है, परन्तु वक्ता की अभीष्ट क्रिया उसकी परिस्थिति, अथवा सचेतादि के द्वारा शीघ्र ही श्रोता को बुद्धिस्य हो जाती है। यथा यदि वक्ता बाहर से दौड़ता आ रहा है तो 'द्वार-द्वार' वाक्य से 'दरवाजा बंद करो' वक्ता का अभीष्ट अर्थ होगा और यदि वह कम के भीतर से दरवाजा खोलता हुआ 'द्वार-द्वार' वाक्य का प्रयोग करता है तो 'दरवाजा खोलो' उसका तात्पर्य श्रोता प्रकरण की सहायता से बुद्धिस्य कर लेगा।

ऊपर जो बात लौकिक वाक्यों के सम्बन्ध में कही गयी है, वही काव्य के सम्बन्ध में नहीं जा सकती है। काव्य में कभी-कभी तो रत्नादि भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् उपादन होता है यथा 'नवीन प्रियतमा प्रीति बढाती है।' इस सम्बन्ध में रति भाव के वाचक पद 'प्रीति' का साक्षात् प्रयोग है। काव्य में कुछ ऐसे भी उदाहरण होंगे जिनमें लौकिक वाक्यों की भाँति रस अथवा भाव वाचक पदों का साक्षात् उपादान नहीं होगा। ऐसे वाक्यों में प्रकरणादिक की सहायता से बुद्धिस्य रत्नादि स्यामोभाव काव्य के वाक्यार्थ होंगे। काव्य में विभाव, अनुभाव और सचारी काव्य के प्रकरणादि हैं और इनका वस्तु तो वाचकतया ही होता है। इन विभावादि के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अतः सहृदय भावक के चित्त में शाश्वत विभावादि संस्कार परम्परा के कारण रत्नादि स्थायी भावों को पुष्ट करते हैं।

रत्नादि व्यञ्जक काव्य में भी रस ही वक्ता अथवा कवि का प्रधात प्रयोजन होता है अर्थात् वही वाक्यादि में प्रयुक्त वाक्यांश तात्पर्यार्थ है जिस प्रकार अभिधा शक्ति का साध्य वाक्यार्थ है और लक्षणा शक्ति का साध्य लक्ष्यार्थ है, ठीक उसी प्रकार तात्पर्याशक्ति का साध्य तात्पर्यार्थ है। यही तात्पर्यार्थ वक्ता का अभीष्ट प्रयोजन है। लौकिक अथवा वैदिक सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं। वक्ता का प्रयोजन ही इनका कार्य है। अतः जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन होगा वहीं तक तात्पर्या शक्ति का क्षय होगा। उसकी सोमा वहीं तक मानी जायगी। इस शक्ति के सम्बन्ध में निष्पात्मक रूप में यह नहीं कहा जा सकता है कि यह अमुक स्थान तक ही जा सकेगी।^१

काव्य के शब्दों का विभावादि रूप अर्थ से अवयव-व्यतिरिक्त सम्बन्ध है। काव्य के शब्दों से उही विभावादि का बोध होता है जिन विभावादि के ये वाचक हैं। उनके वाचक शब्दों के प्रयोग के अभाव में उनका बोध नहीं होता है। ये विभावादि ही निरतिशय सुख के आस्वादि रूप अलौकिक रस की चवणों के प्रतिपादक और रस अथवा भाव इनके प्रतिपादक। फलतः काव्य वाक्यापास्त, विभावादि तथा स्थायी भाव तथा रत्नादि के सम्बन्ध की पर्यालोचना से सिद्ध होता है कि सहृदय पाठक के हृदय में निरतिशय सुखास्वाद उत्पन्न करना ही काव्य का वाक्य अथवा प्रयोजन है। इनमें अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन दिया नहीं पड़ता है। इसलिये धान-दानुमूर्ति ही काव्य का वाक्य निश्चिन्त होती है। इसकी उत्पत्ति में विभावादि-नसृष्ट स्थायी ही निमित्त है। इसलिये काव्य प्रयुक्त वाक्य की तात्पर्य-शक्ति काव्य के प्रयोजन उस रस की प्रतीति के लिए अपेक्षित विभावादि के प्रतिपादन द्वारा रस-बोध कराकर पथवर्णित हो जाती है। इस प्रकार काव्य वाक्य है, विभावादि पदार्थ और तत्समुष्ट रत्नादि भाव वाक्यार्थ हैं। यह तात्पर्य शक्ति का ही धर्म है।

१ यावत्कार्यप्रगारित्वात् तात्पर्य न नुनापतम्।

गीतादि से उत्पन्न सुखवाला दृष्टांत भी काव्य एव रस के विषय में देना ठीक नहीं है। कारण, काव्य से रसानुभूति विनिष्ट भावादि सामग्री का ज्ञान रसने वाले एव उस प्रकार की रत्यादि भावना से युक्ति सहृदयों को ही होती है। रसादि भ्रमवा रत्यादि भावा को काव्य का वाक्यार्थ निश्चित कर देने पर भ्रमिधा सदाशा और तात्पर्य गति से ही अवतक समस्त वाक्यार्थ श्रूयमाण एव श्रूयमाण की प्रतीति होनी है। पसत व्यञ्जना नामक अलग शक्ति की कल्पना व्यय का प्रयत्न है। वास्तव में तात्पर्य के अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति नहीं है।^१

“पूजक निर्मय तोडिये” में निमय पुष्प चयन करें, रूप विधि इत्यादि को ही यदि भ्रमेक्षा की पूर्णता स्वीकार कर लिया जाय और यह कहा जाय कि यही वाक्य का प्रतिपाद्य है और यही तत्क तात्पर्यशक्ति को माना जाय तो चक्का की विषयता पूर्णता ‘निषेधादि’ तक ही तात्पर्य शक्ति को क्या नहीं स्वीकार किया जाता। लौकिक भ्रमवा पीरपेय वाक्य की कोई विवक्षा भ्रमय होती है। धान्य इसी विवक्षा की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होना है अतएव वह विवक्षापरतन है। लौकिक वाक्य में तात्पर्यार्थ उसी वस्तु में होगा जो चक्का की विवक्षा है। इसी लौकिक वाक्य की भांति काव्यादि में भी रसादि उनका तात्पर्यार्थ ही है व्यय भ्रमवा ध्वनि नहीं है। पाजय क मत का यही सारांश है। इसका खण्डन अभिनवगुप्त और भम्मट आदि आचार्यों ने किया है जिसका उल्लेख द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

हुतक की ध्वनि-उपेक्षा—

आचार्य हुतक ने ‘ध्वनि-मिहान्त’ का समर्थ विरोध किया। वह ध्वनि सिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे। उसकी प्रवतना उनसे लगभग १०० वर्ष पहिले काश्मीर में ही हो चुकी थी। ध्वनि-सिद्धान्त का उग्र विरोध करने के लिए ही उन्होंने वज्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रवतन किया। आचार्य ने स्वप्रणीत ग्रन्थ वज्रोक्ति जीवित में ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने की महिममट्ट की भांति प्रनिष्ठा कही नहीं की है। अत हुतक को ‘ध्वनि की उपेक्षा करने वाला आचार्य स्वीकार करना अधिक सगत जान पड़ता है। उपेक्षा में उत्कटम विरोध सन्निविष्ट रहता है।

जिस वज्रोक्ति को काव्य के जीवित रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न हुतक ने किया, उसके सबल सक्त सस्कृत साहित्य एव का य-साष्टन में पहिले से ही विद्यमान थे। सस्कृत साहित्य में वाण की कादम्बरी में वज्रोक्ति का व्यापक ग्रन्थ में प्रयोग प्राप्त होता है। भामह ने अपने कापालकार में भी ‘वज्रोक्ति’ को उसके व्यापक ग्रन्थ में ही ग्रहण किया है। भामह की ‘वज्रोक्ति’ के प्रति वस्तुपरक दृष्टि है और उनके अनुसार हर प्रकार के काव्य चमत्कार की प्राप्ति के लिए इसका समावेश अनिवार्य है।

दण्डी भी वज्रोक्ति को अलंकार विरोध न मानकर ‘उक्तिवैचित्र्य’ के रूप में स्वीकार करते हैं। दण्डी के लिए वज्रोक्ति काव्य चमत्कारोपादक तत्व है। उसमें लोकातिक्रान्तगाचर तत्त्व विद्यमान रहता है। स्पष्ट है कि दण्डी को वज्रोक्ति भी साधारण अलंकार न होकर व्यापक काव्य-चमत्कार ही है।

दण्डी के पदचात् 'वक्रोक्ति' का अर्थ समुचित हो गया और वह केवल एक अलंकार विशेष माना जाने लगा। वामन और रुद्रट ने उसे अलंकार ही माना है। पर तु आनन्दवदन ने प्रायः मामल के पक्ष का ही अवलम्बन किया है।

आनन्दवदन ने काव्य का लक्षण "सहृदयहृदयाह्लादि क्षादायमयत्व काव्यलक्षण" किया था। काव्य का यह लक्षण व्यक्ति परक अथवा आत्मनिष्ठ दृष्टि से किया गया है और वस्तु परक दृष्टि को सबया उपेक्षा कर दी गई है। कवि की अपनी कृति में उसकी एकांत प्रवहेलना बहुते को अच्छी न लगी। काव्य का यह लक्षण काव्य विशेष का लक्षण तो माना जा सकता है परन्तु काव्य सामान्य का लक्षण स्वीकार करने में कठिनाई पड़ी। साहित्य दण्णकार की स्थिति 'काव्य रसात्मक काव्यम मानकर जो दशा हुई, वही आनन्द के लक्षण की हुई। कुतक इसी व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि के विपरीत एकांत वस्तु परक दृष्टि लेकर ध्वनि का उपेक्षात्मक विरोध करने के लिए 'वक्रोक्ति' में समग्र काव्य बन्धन रम वस्तु, अलंकार को समेटने के लिए प्रयत्नशील हुए, यह सत्य है कि काव्य के जिन सौन्दर्य भेदों की आनन्दवदन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुतक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना ही है।^१ इसलिए कुछ विद्वान् दोनों में भेद स्वीकार करते हैं।^२

यह प्रारम्भ में स्वीकार किया जा चुका है कि कुतक ने ध्वनि का अपने अर्थ में प्रत्यक्ष पण्डन वही पर नहीं किया है। उन्होंने तो ध्वनि के समान ही एक समय काव्य सिद्धान्त प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। परन्तु जिन ध्वनि साम्य को लेकर वे ध्वनि का वक्रोक्ति में अन्तर्भाव करने चले थे। वही साम्य उनके सिद्धांत के लिए घातक सिद्ध हुआ। वस्तुतः जब लोगो ने यह देखा कि कुतक वक्रोक्ति द्वारा प्रकारांतर से वही बात कह रहे हैं जो 'आनन्द' ध्वनि के द्वारा कह चुके हैं, तो उन्होंने उसकी उपेक्षा की और सभी उसका नाम न लिया। सस्कृत काव्य शास्त्र में भी उसका अनुकरण न हुआ। महिम भट्ट ने तो ध्वनि सिद्धांत के इस साम्य के कारण ही कुतक की बहुत प्रलोचना की^३ और कहा "कुतक की वक्रोक्ति ध्वनि से अभिन्न है। उसमें मार्गांतर के आग्रह को छोड़कर और कोई विशेषता नहीं है। इसलिए ध्वनि के समान उसका भी अनुमान में अन्तर्भाव सबया सम्भव है।"^३

वक्रोक्ति का ध्वनि साम्य उसके लिए घातक बन गया। आने के विचारको ने उसको नया माग चलाने का आग्रह समझ कर त्याग दिया। यहां वक्रोक्ति का ध्वनि के साथ साम्य स्पष्ट कर देना प्रासंगिक जान पड़ता है। इस साम्य को बाह्य और आन्तरिक साम्य दो भेदों में विभक्त कर लेना सुविधाजनक होगा।

बाह्य साम्य

ध्वन्यालोक और वक्रोक्ति जीवित दोनों ग्रन्थों की प्रवचन-रचना में प्रायः पूर्ण साम्य है। ध्वन्यालोक चार उद्योतों में समाप्त हुआ है और वक्रोक्ति जीवित चार उद्योतों में। दोनों ही ग्रन्थ

१ डा० नगेन्द्र-वक्रोक्ति जीवित सूचिका, पृ० १६३।

२ वक्रोक्ति और अभिव्यञ्जना, प० ६८।

३ व्यक्ति विवेक, प० १२७।

मे मूल सिद्धांत का प्रतिपादन कारिकाप्रभो म हुआ है। ध्वयालोच के कारिका भाग का नाम 'ध्वनि' है और वक्रोक्ति जीवित के कारिका भाग का 'कायालकार'। ध्वनिकाविकाया पर लिखी जाने वाली वृत्ति जिम प्रकार 'यालोच' नाम से प्रसिद्ध है उसी प्रकार इसका वति भाग वक्रोक्ति जीवित नाम से। दोनों हो म उदाहरण वति भाग म दिये गये हैं। 'वक्रोक्ति जीवित' म उद्धृत उदाहरण भी कही वही ध्वयालोच से ही लिए गये हैं। ध्वयालोच के चतुर्थ उद्योत की भांति वक्रोक्ति जीवित का चतुर्थ उद्योत भी लघुकाय है। विषय प्रतिपादा को शाली मे भी साम्य है।

आंतरिक साम्य

ध्वनि के द्वारा मानद ने काय के जिम चमत्कार का उद्घाटन किया था उसकी प्रवहेलना ध्वनि विरोधी प्राय न कर सके। रसध्वनि व चमत्कार को भट्ट नायक, कुतक और महिम सभी वाच्य का सर्वोत्तम चमत्कार स्वीकार करते हैं। महिम ने यहाँ तक कह दिया है कि रस की प्रधानता के सम्बन्ध म क्या किसी की विप्रतिपत्ति हो सकती है।^१ ध्वयालोच और वक्रोक्ति जीवित का सर्व प्रथम आंतरिक साम्य ध्वनि और वक्रोक्ति व लक्षण म है। दोनों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकलता है—

दोनों ही आचार्य काय का चमत्कार वाच्यवाचक से भिन्न मानने के पक्ष मे हैं। मानन्दवद म ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं और कुतक 'विचित्रा अभिप्रा' के द्वारा। दोनों की दृष्टि मे यह विचित्रमिद्धि असीविक प्रतिभाजय है। इस प्रकार दोनों मे प्राय स्वरूप साम्य है।

स्वरूप साम्य की अपेक्षा ध्वनि और वक्रोक्ति व भेद प्रस्तार म और भी अधिक साम्य है। इसी भेद प्रस्तार साम्य को देखकर कायप्रकाश की बाल-वाधिनी टीका के लख न अपनी भूमिका म लिखा, 'कुल्लव ने उच्चार वक्रता इत्यादि से मान द का सम्पूर्ण ध्वनि प्राच स्वीकार कर लिया है।^२ कहने का अभिप्राय यह है कि दोनों म गमान यापकता है।

मानद की व्यञ्जकता और कुतक की वक्रता पर्याय जान पड़ता है। मानद म ध्वनि वाच्य के दो भेद स्वीकार किये थे—१. अविवक्षित वाच्य ध्वनि और २. विवक्षित वाच्य ध्वनि। इनम प्रथम के भी अर्थांतर सम्प्रमित वाच्य और अत्यंत तिरस्कृत वाच्य भेद किये थे। कुतक की रुढ़ि विचित्र-वक्रता उपयुक्त अर्थांतर सम्प्रमित वाच्य ध्वनि की भिन्न समाना है। कुतक के उदाहरण भी ध्वयालोच के हैं और उसी साक्षात्क चमत्कार की ओर उनका सन्त है। वृत्ति वक्रता का भी इसी भेद क अन्तर्गत अन्तर्भाव हो सकता है। उपचार वक्रता अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का ही रूपांतर है। उपचार वक्रता म भी उपचार लक्षण का ही चमत्कार है। पर्याय यत्रता का अन्तर्भाव शब्द शब्दार्थ संलग्नग्रम-व्यस्य स्वय आचार्य कुतक का भी मान्य है।

‘एष एव शब्द शक्तिमूत्रानुराणरूपव्यस्यस्य पध्वनेविषय ।’^३

१. व्यक्तिविवेक पृ० १०५ वाच्यस्यात्मनि सगिनि रसादिरूपकरमचिन्मिति ।

२. उपचार वक्रतादिभि समस्तो ध्वनिप्रपच स्वीकृत ।

—वा० वा० भलवीवर प्रस्तावना पृ० ३

३. व्यक्तिविवेक २।१२ वृत्तिभाग ।

इस प्रकार वक्रोक्ति जीवित के ममस्त प्रसंग का ध्वनि से अन्तर्भाव किया जा सकता है। परन्तु भ्रान्त की आत्मनिष्ठ समालोचना-पद्धति में वस्तु की उपेक्षा सन्निहित है और कुन्तक की पद्धति में व्यक्ति की। दोनों के समन्वय से समालोचना की स्वस्थ परम्परा का रूप स्थिर हो सकता है।

आचार्य महिमभट्ट का ध्वनि विरोध

ध्वनि सिद्धांत का खण्डन करने के लिए महिमभट्ट ने व्यक्ति विवेक नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट है कि वह दण्ड की चतुर्थ शक्ति 'व्यक्ति' की आलोचना करने के लिए लिखा गया है। ग्रन्थ का लेखक व्यंग्याय को प्रकट करने वाली व्यञ्जना शक्ति की मानने वाले और उसका समर्थन करने वाले आचार्यों की विवेकहीनता प्रकट करना चाहता था। ग्रन्थ के प्रारम्भ में व्यञ्जना का 'अनुमान' में अन्तर्भाव करके ध्वनि सिद्धांत का तोखलापन सिद्ध करने की उसने प्रतीति की थी।^१

भ्रान्त-दण्डन ने ध्वनि की व्याख्या व्यक्ति निष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ दृष्टि से की थी। कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में विषयनिष्ठ दृष्टि से वक्रोक्ति का प्रतिपादन किया, परन्तु महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक के द्वारा ध्वनि सिद्धांत पर दुहरा आक्रमण किया था। उनका दृष्टिकोण कही विषयनिष्ठ है और कही आत्मनिष्ठ।^२ उन्होंने रस का आत्मनिष्ठ स्वीकार कर लिया है परन्तु अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि की विषयनिष्ठ दृष्टि से आलोचना की है। महिमभट्ट अभिमान की प्रकृति के व्यक्ति से और दूसरे आचार्यों की नगण्य समझते थे।^३ साथ ही वह प्रसिद्धि भी शीघ्र प्राप्त करना चाहते थे और वह उन्हें भ्रान्त-दण्डन और कुन्तक जैसे प्रतिष्ठित आचार्यों के खण्डन से मिलती जान पड़ी।^४ महिमभट्ट न्यायिक नहीं थे परन्तु वादचार की शक्ति परम्परा को मानने वाले थे।^५

सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभाजित है, प्रथम का ध्वनिलक्षणोद्देश, द्वितीय का शब्दानुचित्यविचार और तृतीय का अन्तर्भावोपदेशन नाम रखा गया है। प्रथम विमर्श में ध्वनि लक्षण के दोषों के उद्घाटन करने का प्रयत्न है, दूसरे विमर्श में काव्य के बहिरंग-शब्द से सम्बद्ध पाँच दोषों विधेयाविमर्श, अश्रमभेद, अश्रमभेद, पीनस्वल्प और वाच्यवाचन का उल्लेख है। सम्पूर्ण द्वितीय विमर्श (१४८, ३६८) इन्हीं दोषों के लक्षण और उदाहरण देने में समाप्त हुआ है। तृतीय विमर्श में लक्षक ने ध्वन्यालोक के लगभग चालीस उदाहरणों की व्याख्या करके उनका अनुमान में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः प्रथम और अन्तिम विमर्श ही ऐसे हैं जिनमें ध्वनि सिद्धांत का खण्डन समाविष्ट है।

१ अनुमानऽन्तर्भाव सत्यवचने प्रकाशितम्।

व्यक्तिविवेक द्रुस्त प्रणम्य महिमा परा वाचम्। वि० १-१।

२ के० सी० पाण्डेय, इण्डियन ऐस्थेटिक्स पृ० ३२१।

३ मधुसूदनी टीका द्वितीय विमर्श का प्रारम्भ।

४ व्यक्तिविवेक १-३।

५ डा० के० सी० पाण्डेय।

ध्वन्यालोक में ध्वनि का लक्षण प्रथम उद्योत की तरहही बारिका में किया गया है।^१ व्यक्तिविवेकार ने इस लक्षण में निम्नलिखित दस दोष दिखलाये हैं—

- १ अक्ष के साथ उपसर्जनोद्भूत स्वाध्विषेण का प्रयोग अनुचित एवं अनावश्यक है।
- २ शब्द का अभिधा के अतिरिक्त दूसरा व्यापार ही नहीं होता, इस 'शब्द का प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं थी।
- ३ शब्द के अप्रयोग में शब्द का विशेषण 'उपसर्जनोद्भूत स्वाध्वि' भी अनावश्यक सिद्ध हो जाता है।
- ४ 'तम्' में पुल्लिङ्ग का प्रयोग भी अनुचित है।
- ५ 'यत्तु' द्विवचन का प्रयोग दोषपूर्ण है।
- ६ 'वा' निपात का प्रयोग भी दोषपूर्ण है।
- ७ 'व्यञ्ज' धातु के प्रयोग से लक्षण में अयाप्य और अतिरिक्त दोष आ जाते हैं।
- ८ काय के ही दूसरे 'ध्वनि' नामकरण में वषट्त्व दोष का समावेश होता है।
- ९ 'काय विशेष' में 'विशेष' कथन में अवाच्यवचन दोष है।
- १० 'कथित' क्रिया के कर्ता का प्रयोग लक्षण में अनावश्यक है और अवाच्यवचन दोष है।

इन दस दोषों के अतिरिक्त और भी दोष हैं जो भेदादि के लक्षणों में सम्बद्ध हैं अतएव उनकी गणना नहीं कराई गई है।^२

आचार्य ने ध्वनिकार के ध्वनि लक्षण को अनेक दोषदुष्ट सिद्ध करने का असफल प्रयास करने अनुमिति का कुछ लक्षण यह दिया है —

धावस्तबनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थात्तर प्रकाशयति ।

सम्बन्धत कुतश्चित् सा वाध्यानुमितिरित्युक्ता ॥^३

'जहाँ वाच्याय अथवा उससे अनुमित अथ किसी सम्बन्ध से अथ अथ को प्रकाशित करता है, उसे वाध्यानुमिति कहा गया है।

महिमभट्ट का आग्रह है कि जिस प्रकार ध्वनि लक्षण में अभिधेयाय और उसके विशेषण का ग्रहण किया गया है उसी प्रकार उसमें अभिधा का ग्रहण भी चाहिये था। इस सम्बन्ध में वे अभिधा को अलङ्कार के अर्थ में ग्रहण करके चक्रोक्तिजोवितकार का अनुकरण करते जान पड़ते हैं। उन्होंने कुन्तक के 'भगीमलुति' पद का प्रयोग भी किया है। उनका मत है कि अभिधा का प्रयोग न होने से लक्षण की अयाप्य के कारण दोषक अलङ्कार में, जहाँ उपमा की प्रतीति होती है, 'ध्वनि' अभीष्ट न होगी और ध्वनि का लक्षण अयाप्य दोषयुक्त हो जायगा।^४

१ ध्वन्यालोक, १-१३।

२ व्यक्ति विवेक, १-२३-२४ एवं मधुसूदनी विवृति प० १०४।

३ वही, प० १०५।

४ व्यक्ति विवेक, प० १८-१९।

सम्बन्ध में भट्टनायक का अनुवर्तक स्वीकार किया है। 'रस प्रतीतिवत् अनुमिति होने के कारण ही प्रसङ्गकार युक्त है।'

ध्वनिवादियों के मत से प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ की अभेदाभावात् ध्वनि प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि से भी प्रतीयमानार्थ में वाच्यार्थ की अभेदाभावात् रस प्राप्त होता है।

‘न च सुखयतिऽवाच्योऽथ प्रतीयमान् स एव यथा।’^१

प्रायः ऐसे ही कारणों से इनका विद्वत्प्रमाण में समावेश न हुआ।

ध्वनि सिद्धांत का समयन और उसकी प्रतिष्ठा

प्राचाय अभिनव और ध्वनि

संस्कृत काव्य शास्त्र में आनन्दवर्धन युग प्रवर्तक प्राचाय हुए हैं और अभिनवगुप्त युगप्रतिष्ठापक। युगप्रवर्तनकारी जिस ध्वनि सिद्धांत का आनन्दवर्धन ने प्रवर्तन किया था, प्राचाय अभिनव गुप्त ने, उसकी ऐसी प्रतिष्ठा की कि प्रागे जाने वाले प्राचाय इस माग का प्रतिप्रमाण न कर सके। सोचन टीका का काव्य-शास्त्र में ठीक वही स्थान, प्रतिष्ठा और महत्त्व है जो 'पाकरण' के क्षेत्र में पन्तजलि के महाभाष्य का और वेदांत में जगद्गुरु गङ्गाधर के शारीरिख भाष्य का।^२ वे गङ्गाधर परम्परा के उच्चकोटि के दार्शनिक विद्वान थे। ध्वनिलोक की सोचन टीका लिखकर ध्वनि सिद्धांत को उद्बोधित करने और मनोविज्ञान की स्थिर भूमि पर खड़ा कर दिया। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण और सशक्त टीका है जिस साहित्यशास्त्र का महाभाष्य कहा जा सकता है। इस टीका में विषय प्रतिपादन में उच्चकोटि की तत्त्व-पद्धति का आश्रय लिया गया है। इनमें ध्वनिलोक में दुरुह स्थानों का स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है। इस प्रयत्न से इसका लोचन नाम साधक सिद्ध होता है। परन्तु स्थान स्थान पर टीकाकार ने अपनी मौलिक विचारधारा का भी उल्लेख किया है।

साचन के प्रणयन से पूर्व ध्वनिलोक पर 'चन्द्रिका' नाम की टीका उद्बोध के निम्न वृत्त के द्वारा लिखी जा चुकी थी परन्तु उसका ग्रन्थ का आशय यथावत् स्पष्ट नहीं होता था। अतः सोचन में स्थान-स्थान पर उसकी आलोचना की गई है।^३ प्रथम और द्वितीय उद्योत के अन्त में उद्बोधने लिखा है कि 'साचन विनालोको भाति चन्द्रिकायापि हि अर्थात् क्या चन्द्रिका की सहायता से आलोचन, बिना सोचन के सोचा जाता है? यह निःसन्देह टाक है कि सोचन के उद्बोधन से ध्वनि सिद्धांत का स्पष्ट दर्शन हो सके। इस टीका से पूर्व भट्टनायक के 'हृदयदण्ड' नामक ग्रन्थ की भी रचना हो चुकी थी। इसमें ध्वनि का खण्डन किया गया था। चन्द्रिका टीका और हृदयदण्ड के द्वारा ध्वनि सिद्धांत के सम्बन्ध में जो-जो विप्रतिपत्तियाँ और शक्यों खड़ी हो चुकी थी, उनका लोचन में तत्काल उत्तर मिलता है। 'चन्द्रिका की भाँति हृदयदण्ड के ध्वनि खण्डन की भी स्थान स्थान पर तत्काल आलोचना की गई है।^४ कहने का तात्पर्य यह है कि

१ वही, पृ० ७४।

२ हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोयटिक्स, पृ० २०३।

३ लोचन, पृ० १४१, २१७, २६६।

४ लोचन, पृ० १४, १८, २३, २४, ३२।

लोचन को रचना से पूर्व ध्वनि सिद्धांत के विरुद्ध जितना ध्वान्त एवम् हुमा था उम सवको लोचन ने दूर कर दिया ।

प्रान-दवधन ने ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन तो कर दिया था, परन्तु कारिका और वृत्ति के होते हुए भी विषय को मरनतर और स्पष्टतर करने की आवश्यकता बनी हुई थी । लोचन की रचना से इस आवश्यकता की सुंदर पूर्ति हुई । ग्रन्थ के शुद्ध स्थलों को लोचनकार ने सरल, स्पष्ट और बोधगम्य कर दिया है । इस प्रकार के उदाहरण स्थान स्थान पर प्राप्त होते हैं । लोचन की रचना का यह प्रथम उद्देश्य रहा है ।

ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ध्वनि-स्वरूप निरूपण करने की प्रतिज्ञा करने के द्वितीय कारिका में उसके वाच्य और प्रतीयमान भेद करना असंगत प्रतीत होता है । वृत्तिकार ने भी इस असंगति का कोई सोपपत्तिक समाधान करने का प्रयत्न नहीं किया है । लोचनकार ने इस खटवने वाली असंगति का सोपपत्तिक समाधान इस प्रकार करने का प्रयत्न किया है—

“प्रतीयमान विशेष अर्थ का आधार वाच्य ही है । वाच्यार्थ के अभाव में प्रतीयमान अर्थ की स्थिति ही नहीं हो सकती है । वाच्य अर्थ के साथ प्रतीयमान अर्थ को भी मुख्य माना गया है । इसी मुख्यता को प्रकट करने के लिए कायात्मा रूप से ‘यवस्थित सहृदय श्लाघ्य अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान भेद किये गये हैं । ये दोनों अर्थ मुख्य हैं । जिस प्रकार वाच्य अर्थ का प्रपञ्च (विधान) सम्भव नहीं है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का भी । द्वितीय कारिका में ‘स्मृती’ पद का प्रयोग प्रथम कारिका के जो पहले समाप्नात किया गया था, को पुष्टि करने के लिए ही हुमा है । काय को शब्द और अर्थ नहीं वाता माना गया है । शरीर के ग्रहण करने से ही यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उनमें कोई न कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिए । उस आत्मा के सद्भाव से काय जीवित रह सकता है । शब्द का आत्मा का स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि उसको शरीर भाग में सन्निविष्ट किया जा चुका है । जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और दृश्यावादि धर्म सर्वजन संवेद्य हैं उन्ही प्रकार सुनाई पड़ने के कारण यह शब्द का वाच्य प्रत्यक्ष है— शब्द भी प्रत्यक्ष ही है, अतएव आत्मा शब्द से भिन्न ही होनी चाहिए । शब्द के प्रतिरिक्त अर्थ अर्थ की बात रही । वह अर्थ दो प्रकार का होता है उसमें एक अर्थ एवा होता है जिसमें कोई ऐसी विशेषता नहीं होती जो सहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके । दूसरा अर्थ वस्तुतः समरकारक होने के कारण सहृदय-श्लाघ्य होता है । इनमें प्रथम अर्थ शरीर स्थानीय ही है । द्वितीय प्रकार का अर्थ ही वाच्य की आत्मा है । अर्थ शब्द की भाँति सर्वजन संवेद्य नहीं होता है । साथ ही अर्थ की सत्तामान से ही ‘काव्य की ‘सत्ता नहीं दी जा सकती है । अर्थ की सत्ता तो लौकिक और वनिक वाक्यों में भा होती है । परन्तु उनको काय का नाम नहीं दिया जाता है । साधारण अर्थ से प्रतीयमान अर्थ की विशेषता प्रकट करने के लिए ही सहृदयश्लाघ्य और कायात्मा विशेषण दिये गये हैं । वह अर्थ तो वस्तुतः एक ही है परन्तु विवेकशील उनको विवेचन का सरलता के लिए दो भागों में विभक्त कर लेते हैं । यद्यपि लौकिक और वनिक वाक्यों में सन्निविष्ट रहने वाला भी अर्थ ही बहलाता है और कायात्मारूप से स्थित सहृदय-श्लाघ्य भी । दोनों को अर्थ नाम से अन्निहित किया जाता है । इसलिये दोनों को एक दूसरे से अलग करने के लिए कायाय में लौकिक अर्थ की अपेक्षा कोई न कोई विशेषता स्वीकार करनी पड़ेगी । इन दोनों अर्थों में जो विशेष है, वही प्रतीयमान है । अर्थात् जितना अर्थ समान है उसे वाच्य कहते

हैं। विशेषता के कारण ही प्रतीयमान अथ काव्य की आत्मा माना जाता है। परन्तु प्रतीयमान अथ वाच्याय के साथ मिश्रित रहता है जिसके व्यामोह में पडकर दोनों की एकता मानने वाले कुछ असहृदय व्यक्ति प्रतीयमान अथ का विरोध करते हैं। जैसे चार्वाक लोग शरीर स प्रति रिक्त आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकार करते उसी प्रकार यहाँ भी कतिपय लोग वाच्य को ही काव्य का सवस्व स्वीकार कर लेते हैं। इसलिये अथकार ने चार्वाक में 'अथ शब्द वा एक वचन में प्रयोग किया है और उसका विशेषण दिया है 'सहृदयसाध्य'। यह विशेषण काव्याय की विशेषता के हेतु को अभिव्यक्त करता है। दो भेद कहने का तात्पर्य यह कि उसके दो अथ अथवा दो भाग हैं। भेद का अर्थ है अथ। इन दोनों अर्थों के समिश्रण के कारण एकता की बुद्धि से एक वचन का प्रयोग कर दिया है और विभाग-बुद्धि से उसके दो अथ अथवा भेद बतला दिये हैं। दोनों अर्थ काव्य की आत्मा नहीं होते। केवल प्रतीयमान ही काव्य की आत्मा होता है।^१

अमृतवगुप्त ने आपाततः प्रतीत होने वाली उस असंगति का सौम्यपक्षिक समाधान कर दिया है। लोचन की रचना का यह दूसरा उद्देश्य है। उसकी रचना का तीसरा उद्देश्य है ध्वनि सिद्धांत से अथ सिद्धांतों का सम्बन्ध। उदाहरण के लिये ध्वनि को अभिधा से भिन्न सिद्ध करने के लिये अभिहितान्यवाद अवितामिधानवाद तात्पर्यवाद आदि सिद्धांतों का भी उल्लेख करने ध्वनि को उनसे भिन्न सिद्ध किया है।^२

ध्वनिकार ने जब ध्वनि सिद्धांत प्रतिपादन कर दिया तो विद्वानों की दृष्टि ऊपर गई और उन्होंने उस पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया। लोचन की रचना होने तक ध्वनि सिद्धान्त पर यथेष्ट विचार विमर्श हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। लोचनकार ने यह सबसे बड़ा कार्य किया कि ध्वनिकार के समय से लेकर अपने समय तक होने वाले विचार विमर्श का निचोड़ लोचन में यत्नतः सन्निहित कर दिया है। लोचन के अध्ययन से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। विविधतायपरवाच्य ध्वनि के शब्द शक्ति मूल भेद का श्लेष सप्तम दिखाने के अवसर पर उन्होंने अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से होती है अथवा अभिधा से, इस सम्बन्ध में चार मतों का सग्रह किया है।^३ इन मतों का सारांश यहाँ देने का अवकाश नहीं है।

ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य और गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य के भेदों की ओर सचेत तो किया है परन्तु उनकी सराया नहीं गिराई है। लोचनकार ने ध्वनि का ये भेदों की सराया भी गिरा दी है। इस प्रकार ध्वन्यालोक का स्पष्टीकरण और समर्थन करते हुए भी लोचन में कुछ विशेष महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं।

लोचनकार ने सबत्र ध्वनिकार का अनुवर्तन ही किया हो सो बात नहीं-कही उन्होंने ध्वनिकार से अपनी असहमति भी प्रकट की है। उदाहरण के लिये शक्ति मूल-ध्वनि के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में इस प्रकार का अवसर आया है। शब्द शक्ति से जब आनिष्ट होकर अलंकार की प्रतीति होती है तो वह शक्ति मूल ध्वनि मानी जाती है। ध्वनिकार ने

१ लोचन, पृ० १५ हिन्दी रूपांतर तारावती टीका की सहायता से।

२ वही पृ० २०, २३।

३ वही, पृ० १२०, १२१।

काम्बरी से इसका उदाहरण दिया है। उस उदाहरण की परीक्षा करते हुये उन्होंने लिखा है 'योग शक्ति से रूढ़ि बलवान होती है इस 'माय' का उत्पलन करते हुए 'महाकाल' आदि शब्द श्रुतुपरक अर्थ को कहकर कृतकृत्य हो जाते हैं। इसके पश्चात् अप्राकरणिक श्रुतु परक अर्थ की प्रतीति ध्वनन व्यापार से ही होती है।' ध्वनिकार अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से मानते हैं और अभिनवगुप्त ध्वजना से। इस स्थान पर उन्होंने ध्वनिकार से अपनी असहमति प्रकट कर दी है।

यह सब होते हुए भी यदि अभिनव लोचन की रचना न करते तो कदाचित् मम्मट का काव्य प्रकाश भी काव्यशास्त्र को न मिल पाता। यह सत्य है कि ध्वनि सिद्धान्त के बँभव और व्यापकता के दशन लोचनोन्मीलन के पश्चात् ही हो सके।

आचार्य हयक द्वारा महिम भट्ट के ध्वनि विरोध का उत्तर

जिस प्रकार महिमभट्ट ने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ की रचना की उस प्रकार हयक ने ध्वनि सिद्धान्त के समर्थन के लिए किसी ग्रन्थ विरोध की रचना नहीं की। फिर भी ध्वनि समर्थन की दृष्टि से उनका महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। उन्होंने व्यक्तिविवेक की टीका व्यक्तिविवेक व्याख्यान में ही महिमभट्ट के आक्षेपों का अत्यन्त व्युत्पन्न एवं समर्थन उत्तर दिया है। यदि यह कह दिया जाय कि व्यक्तिविवेकार के अविवेक, वदतो याधात आदि दोषों का आचार्य हयक द्वारा उद्घाटन होने के कारण ही विद्वत्समाज में उसका समादर न हुआ तो अत्युक्ति न होगी। अलंकार सवस्व के प्रारम्भ में भी उन्होंने महिमभट्ट के विरोध की अविवारित कथन कहकर उपेक्षा कर दी है।

ध्वनि के लक्षण में वाच्यार्थ की गौणता को प्रकट करने के लिए 'उपसजनीभूत' विशेषण का प्रयोग किया गया है। महिमभट्ट को इस विशेषण के प्रयोग पर आपत्ति है। उन्होंने लिखा है, किसी भी लक्षण में विशेषण का प्रयोग उसी स्थिति में युक्ति-युक्ति माना जाता है जब विशेषण का प्रयोग उसके उदाहरणों पर तो लागू होता है और उसके विरुद्ध उदाहरणों पर लागू नहीं होता है। परन्तु ध्वनि लक्षण में प्रयुक्त 'उपसजनीभूत' विशेषण में यह बात नहीं है। वह समासोक्ति अलंकार और गुणीभूत-यन्त्र के कतिपय भेदों में खरा नही उतरता है। इनमें वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की प्रतीति में कारण होने पर भी गौण नहीं होता है। समासोक्ति में तो वाच्यार्थ की ही प्रधानता होती है। वास्ता के आधार पर भी वाच्यार्थ की प्रतीयमान की अपेक्षा गौणता सगत नहीं है क्योंकि गुणीभूत-यन्त्र के कतिपय भेदों में व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ में अधिक चारता रहती है। इसलिए 'ध्वनि लक्षण का उपसजनीभूत विशेषण सगत नहीं है।'

हयक ने उनके इस आक्षेप का उत्तर निम्न शब्दों में दिया है, 'कोई भी अर्थ तीन कारणों से गौण माना जाता है—१ वह अर्थान्तर की प्रतीति का कारण होता है, २ वह प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा अचर होता है। और ३ वह स्वयं समाप्त होकर अर्थान्तर का उपकारक होता है।'^१

१ व्यक्तिविवेक, पृ० ६।

२ इडियन एस्पेक्टिव, पृ० ६३।

ध्वनिवार ने लक्षण म वाच्याय की गौणता उपर्युक्त करणों में से प्रथम दो की दृष्टि से नहीं है। उन दोनों की दृष्टि से उनमें दोष मिल सकता है। परंतु उसमें तीसरे कारण की दृष्टि से गौणता है। ध्वनिवार ने ध्वनिवाच्य उत्तमवाच्य वाच्य विरोध का लक्षण किया है। जसा कि उन्होंने कहा भी है 'वाच्यविरोध स ध्वनि इति सूरभिः कथितः'। इस लक्षण में 'अथ' का 'उपसर्जनोक्त' विशेषण गुणीभूत-व्यंग्य को भिन्न करने के लिए ही दिया गया है। गुणीभूत व्यंग्य में वाच्याय जहाँ गौण भी होता है वह स्वयं समाप्त होकर प्रतीयमान अर्थ का उपकारक नहीं होता है। समासोक्ति में वाच्याय प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का कारण होता है परंतु प्रतीयमान अर्थ स्वतः पूर्ण न होकर लौटकर वाच्याय के उपकार के लिए ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार ध्वनि के लक्षण में अर्थ का 'उपसर्जनोक्त' विशेषण पूर्ण युक्ति युक्त है।^१

महिममट्ट ने ध्वनिलक्षण में प्रयुक्त 'वाच्यविरोध' पद के प्रयोग पर भी आक्षेप किये हैं। ध्वनिवादियों की ओर से इस आक्षेपों का उत्तर दते हुए आचार्य रूपक ने कहा है, प्रसिद्ध लक्ष्य का आशय लेकर ही लक्षण की रचना की जाती है। रूपक की दृष्टि से दो प्रकार का वाच्य दिखलाई पड़ता है—१ मुख्य और २ गौण। मुख्य वह है जहाँ व्यंग्य का आशय है, दोष में व्यंग्य का अप्राधान्य है। यह गुणीभूत व्यंग्य है। य दोना हो का य है क्योंकि अनादि काल से उन दोनों के लिए ही वाच्य का व्यवहार होता चला आया है ध्वनिवादी मुख्य और गौण की बात न करके 'वाच्यविरोध' कहते हैं जिससे गुणीभूत व्यंग्य का ध्वनिवाच्य के भीतर परिगणन न हो सके। गुणीभूत व्यंग्य वाच्य की सत्ता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण, ऐसी रचनाएँ उपन्यास होती हैं जिनमें रस अस्फुट है अथवा अगभूत है। ऐसी रचनाओं में वाच्यत्व तो अनादिकाल के व्यवहार के कारण स्वीकार ही करना पड़ता है। जिस रचना में अगौरव स्फुट एवं प्रधान होता है वहाँ ध्वनि वाच्य का व्यवहार होता है अथवा गुणीभूत व्यंग्य आदि का। यदि यह कहा जाय कि मन की विधाति प्रदान करने वाला रस अप्रधान नहीं हो सकता, तो ठीक नहीं है। यद्यपि अभी अभी अगौरव के प्रति अर्थ रस अग रूप में विहित मिलता है। इसी अनादिभाव को ही ध्यान में रखकर अस्तं मुनि ने स्थायी और संचारी भावों का विभाजन किया है। जहाँ स्फुट अगौरव है, वहाँ रस ध्वनि का व्यवहार होता है और जहाँ अस्फुट रस है वहाँ वस्तु ध्वनि अथवा अनाकार ध्वनि का। इस प्रकार ध्वनिवादी के मत में सभी वाच्यवाच्यों का समुचित समाधान उपलब्ध होता है।^२

आचार्य रूपक ने महिममट्ट के आक्षेपों की निस्तारता प्रकट करके ध्वनि सिद्धांत का समर्थन किया है। व्याख्यान में स्पष्टीकरण के दो दर्जन से अधिक स्थल हैं। उनमें उन्होंने कही तो व्यक्ति विवेकवार का आग्रह, कही पदतोव्यापात, कही मिथ्या आक्षेप आदि दोषों का उद्घाटन करके ध्वनि सिद्धांत की अनुमान के चंगुल से छुटाने का सफल प्रयास किया है। ध्वनि की प्रतिष्ठा में रूपक का सहयोग सराहनीय है।

१ व्यक्ति विवेक-व्याख्यान पृ० १३।

२ अत्र-यक्तिवादिन कृत।

—व्यक्ति विवेक व्याख्यान, पृ० १०३।

क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धांत और ध्वनि—

औचित्यविचार चर्चा ग्रन्थ के आधार पर क्षेमेन्द्र 'औचित्य' प्रस्थान के प्रतिष्ठापक स्वीकार किये जाते हैं।^१ परन्तु इस प्रस्थान की उद्भावना के बीच भरत के नाट्यशास्त्र तक में प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् भामह, दंडी और वामन अपने अपने ग्रंथों में यद्यपि औचित्य शब्द का उल्लेख नहीं करते, परन्तु उनके दोषों में अनौचित्य का बहुत कुछ असौ म समावेश है। काव्यालंकार, काव्यमीमांसा और ध्वन्यालोक में औचित्य का उल्लेख है। ध्वन्यालोक में औचित्य को रस परिपाक का अनिवार्य अंग स्वीकार करत हुये निम्नलिखित कारिका उद्धृत है—

अनौचित्याहत नायक रसमगस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिबन्ध परा ॥^२

क्षेमेन्द्र ने इसी 'परा उपनिबन्ध' की भावना का पल्लवन किया है। इसीलिये औचित्य रस की आत्मा माना गया है।^३ औचित्य प्रस्थान ध्वनि विराधी मार्ग नहीं है। इसका एक कारण तो यह कि इस प्रस्थान का ध्वनि के साथ जसा कि कु० पू० स्वामी शास्त्री ने प्रशंसित किया है— उसकी बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये ही भली भाँति समझा जा सकता है। दूसरे 'औचित्य' बहुमुखी मार्ग है और ध्वनि केवल अग्रमुखी। तीसरे वह 'औचित्य' ध्वनि का स्पष्ट विरोध नहीं करता और न कर सकता है। वह ध्वनि का समर्थन ही करता है।

मम्मट द्वारा ध्वनि-शास्त्र का निर्माण—

आचार्य मम्मट ने काव्य के क्षेत्र में विस्मयकारी समन्वय की चेष्टा की। स्वग्रन्थ काव्य प्रकाश में उन्होंने अपने समय तक के काव्य सिद्धांतों की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को ध्वनि व आलोक में व्यवस्थित और समन्वित रूप प्रदान किया है। उनके समग्र प्रेरणा-स्रोतों का उल्लेख करने का अवसर यहाँ नहीं है और न उनके द्वारा पुरस्कृत काव्यालोचन के मानदंड का विवेचन करने का ही इस समय तो ध्वनि के ऐतिहासिक विकासक्रम उनकी महत्वपूर्ण शृङ्खला पर ही विचार करना है।

आनन्दधन ने मन्वप्रथम मौखिक रूप से चलते हुए ध्वनि सम्बन्धी विचार विमर्श को सुव्यवस्थित सिद्धांत का रूप प्रदान किया। यह एक मानी हुई बात है कि जब कोई सिद्धांत व्यवस्थित रूप से लिखित रूप में प्रस्तुत होता है तो आलोचकों की दृष्टि उस पर अवश्य पड़ती है। इनमें से कुछ उसका खण्डन करते हैं और कुछ मण्डन। ध्वन्यालोक ने ध्वनि को जब व्यवस्थित काव्यालोचन के सिद्धांत रूप में प्रस्तुत किया तो उनके प्रबल समर्थक भी सामने आये। उनमें अभिनवगुप्त और मम्मट का नाम मुख्य है।

यह कई बार कहा जा चुका है कि ध्वनि में काव्य की आत्मा को खोजने का प्रयत्न और उसकी उपलब्धि की सूचना है। थोड़ा अथवा पाठक की दृष्टि से वह 'सब परनिवृत्ति' ही है। इसी को काव्य कसौटी मानकर ध्वन्यालंकार ने काव्य परीक्षा की, व्याख्या की। अभिनवगुप्त ने

१ डा० राघवन राम कन्वैण्टस ग्राफ अलंकारशास्त्र, पृ० २४५।

२ ध्वन्यालोक, ३-१५।

३ औचित्यविचार चर्चा, कारिका ३।

ध्वनि के आलोक का दर्शन कराने के लिये 'ध्वन्यालोक' पर लोचन टीका लिखी। 'लोचन' ने ध्वनि का समस्त वभव स्पष्ट कर दिया, उन आनुपंगिक तथ्यों का भी दर्शन कराया जो ध्वनि के आलोक में स्पष्ट नहीं थे तथा कुछ नवीन तथ्य भी प्रस्तुत किए। 'ध्वन्यालोक' की अपेक्षा 'लोचन' ही मम्मट का अधिक आधार है। जसा प्रारम्भ में कहा गया है कि मम्मट ने काव्य क्षेत्र में समन्वय प्रस्तुत किया है। उन्होंने ध्वनि कक्षेत्र में यही कार्य किया है। एक विद्वान का मत है कि मम्मट से बढ़कर ध्वनिवाद का प्रचारक कोई नहीं हुआ है और उनका ग्रन्थ काव्य प्रकाश ही ध्वनिवादी अलंकारशास्त्र का सब प्रथम और साथ ही साथ सबसे श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है।^१ मत निर्विवाद माना जा सकता है कि ध्वनि के क्रमिक विकास में मम्मट अंतिम बड़ी हैं। विश्वनाथ और पण्डितराज भी भागे नहीं बढ़े हैं।

ध्वनि विकास में मम्मट ने जो कार्य किया है उसे सरसता के लिए तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहिले आनन्द और अभिनव के द्वारा प्रतिष्ठित मूल सिद्धांतों को अपनी सक्षिप्त एवं समन्वयवादी शब्दावली में प्रकट करने का प्रयत्न दूसरे आनन्द अथवा अभिनवगुप्त में सकेत रूप से प्रतिपादित सिद्धान्तों का बोधगम्य स्पष्टीकरण प्रदान करने की चेष्टा और तीसरे अपनी धारणाओं का भी इस समन्वय में स्थान देने का प्रयत्न। इसलिए ध्वनि विकास का अध्ययन करते समय मम्मट के प्रथम प्रयत्न का विवेचन करना अशस्यगिक प्रतीत होता है। इस अनुलेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि मम्मट के इस प्रयत्न को कम महत्व प्रदान किया जाता है। वस्तुतः मूल्य तो इसी प्रयत्न का अधिक है। परन्तु मम्मट की वास्तविक प्रतिभा के दर्शन तो ग्रन्थ दो ही प्रयत्नों में होते हैं। दूसरे आनन्द और अभिनवगुप्त के अलेख के अवसर पर मूल सिद्धांतों का एक बार उल्लेख हो चुका है यहाँ उनका उल्लेख चरित्रचरण ही होगा।

आनन्दवचन के अनुसार काव्य का लक्षण यह है—

'सहृदयहृदयाह्लादि शब्दायमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।'^२

सामान्यतया यह काव्य लक्षण ठीक है, परन्तु विश्वनाथ की भांति यह भी 'काव्यविशेष' का ही लक्षण है, काव्य-सामान्य का नहीं। यह पहले स्वीकार किया जा चुका है कि ध्वनि में काव्य की आरमभिव्यक्ति याह्या का प्रयत्न है। इस दृष्टि से उपयुक्त लक्षण में 'सहृदय प्रमाता, श्रोता अथवा पाठक है। 'आह्लाद रस का परिचायक है और 'शब्दायमयत्व' काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ के लिए प्रयुक्त है। यह परिभाषा इस प्रकार रखी जा सकती है। 'सहृदय के हृदय को आह्लाद प्रदान करने वाला ही शब्दार्थ काव्य है।' पाठक अथवा सामाजिक की दृष्टि से लक्षण को यदि पूरा भी मान लें तो भी काव्यालोचक की दृष्टि से इस एकांगी ही स्वीकार करना पड़ेगा। इसमें वाद विवाद की यथेष्ट गुञ्जाइश है। अब तब काव्य क्षेत्र में प्रचलित काव्य लक्षणों का समन्वय करने की भी चेष्टा नहीं है। इस दृष्टि से मम्मट का काव्य लक्षण सर्वशोभ

१ डा० सत्यव्रतसिंह हिन्दी काव्य प्रकाश का भूमिका, पृ० ७०।

२ ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत, पृ० ३।

लक्षण है। उसकी विस्तृत परीक्षा न करके संक्षेप में उसकी विशेषताओं का उल्लेख है। मम्मट का लक्षण यह है —

तद्वदोद्यो शब्दार्थो सगुणायनलङ्घितो पुन वचापि ॥^१

मम्मट के अनुसार दोषरहित, गुणसहित और यथासम्भव अलङ्कृत शब्दागम ही काव्य है। मम्मट के अनुसार दोष, गुण और अलङ्कार का किसी न किसी प्रकार रस से ही सम्बन्ध है। दोष रस के विधातक हैं, गुण रस के नियत अंगी घन हैं और अलङ्कार परम्पराया रस से उपकारक, फलत इन् सभी विशेषणों से रस की व्यञ्जना है। सबसे बड़ी बात यह है कि ध्वनि-दृष्टि से निरूपित काव्य लक्षण में भी यदि ध्वनि का समावेश न हो सका तो वह लक्षण ही क्या। काव्य-लक्षण में आनन्द-वर्धन के लक्षण को व्यापक, ध्वनियुक्त, सर्वतोमग्न और प्रचलित लक्षणों से समन्वित प्रस्तुत करने का ही मम्मट का प्रयत्न है।

ध्वनय के अनुसार आनन्द ने काव्य के दो भेद किए हैं। दो ही हो भी सकते हैं। एक काव्य का वह रूप जहाँ व्यङ्ग्य अथ चमत्कारयुक्त और प्रधान हो और दूसरा वह रूप जहाँ व्यङ्ग्य अपेक्षाकृत कम चमत्कारयुक्त और अग्रधान हो। परन्तु इसके प्रतिरिक्त ध्वन्यालोककार ने काव्य के चित्रभेद की ओर भी संकेत किया है। सम-वयवादी मम्मट ने उनका सूत्र ग्रहण कर काव्य के तीन भेद किये और काव्य के तीसरे भेद में भी व्यङ्ग्य सस्पष्टत्व का समावेश कर दिया। वस्तुतः ध्वनि के अनुरूप दो प्रकार का काव्य स्वीकार कर लेने पर काफी मात्रा में ऐसा अथ चित्र अथवा शब्द चित्र प्रधान वाङ्मय रह जाता है जिसका समावेश उपर्युक्त दो भेदों में असम्भव था। और तृतीय भेद न मानने से विवाद-परम्परा का अन्त न हो पाता। विश्वनाथ आनन्द की दो भेद वाली उक्ति पर चले और उत्सन्न भय। मम्मट के काव्य के तीन भेद मान लेने पर विवाद का अन्त हो गया और काव्य के तीन भेद सम्भाव्य हो गये।

ध्वनिकार ने व्यङ्ग्य के प्रधानभाव और मौल्यभाव के कारण काव्य के दो भेद किये और प्रथम को ध्वनि नाम दिया तथा दूसरे को गुणी भूत-व्यङ्ग्य। इसके बाद भी बड़े वाङ्मय को 'ततोऽयत् चित्र नाम दिया है। 'काव्ये उभे को विधेय स्वीकार करके विश्वनाथ ने चित्र को काव्य सीमा से बाहर धकेल दिया। साथ ही साहित्य दर्पण के दशम उल्लास में चित्र काव्य के अलङ्कारों का विवेचन करने की अवस्थिति चेष्टा की। विश्वनाथ भी ध्वन्यालोक के अनुवक्तक हैं। परन्तु मम्मट ने देखा कि ध्वनिकार ने 'ततोऽयत् चित्रम्' कह कर चित्र की अपेक्षा नहीं की जती कि उर्ह काव्य के दो भेद मानने के पश्चात् करनी चाहिए थी। अपितु चित्र का भी संक्षिप्त विवेचन अभिनवेश के साथ किया। दूसरे उन्होंने स्वयं भी प्राचीन अलङ्कार प्रधान काव्य की परिपाटी पर एक साथ पर्वो डालने के प्रयत्न की असफलता देखकर चित्र का भी काव्य का तीसरा भेद मान लिया।

ध्वनिकार ने व्यङ्ग्याय प्रधान काव्य को ध्वनि की सत्ता प्रदान की है और व्यङ्ग्याय गुणभाव-युक्त को गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य की। अथ का नाम चित्र दिया है। यहाँ भी मम्मट ने अपनी विशेषता का परिचय दिया है। उन्होंने काव्य के तीनों भेदों के नाम उत्तम, मध्यम और अधर कर दिये हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह उत्तम काव्य ही परम्परागत ध्वनि काव्य

है और मध्यम हो गुणीभूतव्यग्य । अवर तो चित्रकाव्य है । ही यदि विचार किया जाय तो ध्वनिकार ने काव्य के तीन नाम देकर काव्य के त्रिविध विभाजन की ओर पक्षपात तो प्रदर्शित कर दिया था परन्तु उनके ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य में जो सूत्र अथवा तारतम्य विद्यमान है, वही सूत्र चित्र में नहीं है । 'आनन्द और अभिनव' को ध्वनि और गुणीभूत काव्य के 'वग्यो' में आख्याचारुत्व अभीष्ट नहीं है । उनके अनुसार ध्वनि और गुणीभूतव्यग्य काव्यो का व्यापार समान रूप से अति रमणीय है । ध्वनिकार ने स्वीकार किया है, ध्वनि निष्पन्न रूपो द्वितीयोऽपि महाकवि विषयोऽतिरमणीयो लक्षणीय सहृदय ।^१ इसके विपरीत मम्मट ने उत्तम, मध्यम और अधम नाम देकर उत्तम और मध्यम के व्यग्यों को अति वाच और 'यून वाच मानकर उत्तम से गुणीभूतव्यग्य तक आने वाले ध्वनिकार के व्यग्य आख्य सूत्र में अवरकाव्य को भी सम्प्रति कर दिया । इससे ध्वनिवादो समालोचना में उत्पन्न आ गया, काव्य भेदों में तारतम्य स्थापित हो गया और उसमें व्यवहारिकता का समावेश हो गया जिसकी बड़ी आवश्यकता थी । उत्तम और गुणीभूतव्यग्य के व्यग्य में समरमणीयता देखने में सत्यता तो थी परन्तु 'माव हारिकता' नहीं थी । व्यग्य सौंदर्य कहने में अचाह नहीं होता, इसे मम्मट जानते थे । यही मम्मट का सबसे बड़ा काय था ।

मध्यम काव्य भेद

ध्वनिकार और अभिनवगुप्त में गुणीभूतव्यग्य के आठ भेदों के संकेत ढूँढे जा सकते हैं परन्तु उनका स्पष्ट लक्षण विवेचन नहीं हुआ है । मम्मट केवल ध्वनि सिद्धांत का मात्र प्रतिपादन नहीं कर रहे थे प्रत्युत ध्वनि शास्त्र का निर्माण कर रहे थे । उन्होंने उन संकेतों का सूत्र ग्रहण कर गुणीभूतव्यग्य मध्यम काव्य के आठ भेद किये, आठों के ध्वन्यालोक और अभिनव से ही सूत्र ग्रहण कर नामकरण किये, आठों के लक्षण, उदाहरण और सगति प्रदर्शित करके मध्यम काव्य के प्रसंग की अंतिम रूप प्रदान किया । उन्होंने रस को सबका अलंकार स्वीकार कर आनन्दबोधन और अभिनवगुप्त की रसवत् अलंकार सम्बन्धी मायता का प्रत्याख्यान करके अपराग की स्थापना की ।

मम्मट को ध्वनि-भाग अष्ट माने जाने का भय नहीं है । भय उह यह है कि अध्याव हारिकता में पड़कर वक्राक्ति-सिद्धांत की भाँति ध्वनि सिद्धान्त सहीण होकर अवहट्ट न हो जाय ।

ध्वनि-काव्य में रस और भाव अंगीभाव अथवा प्रधान रूप से 'यवस्थित रहते हैं परन्तु काव्य में कभी कभी इसके विपरीत स्थिति भी आ जाती है । कभी कभी काव्य में वाक्याय अंगी होकर प्रधानता प्राप्त कर लेता है और रस, भाव रसाभास, भावाभास आदि उसने धग हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में अंगभूत गौणभूत रस आदि को ध्वनिकार अलंकार रसवदादि मानते हैं । यह उनका अपना पक्ष है । इसलिये इसमें उनका अभिनिवेश है । यद्यपि अपनी इस स्थापना की कमजोरी भी उनको स्पष्ट है कि जो रस, भाव आदि सबका अलंकार हैं उन्हें अलंकार मानने में अव्यवस्था की समाधान है । फिर भी वह मानते हैं । अभिनवगुप्त ने भी इस मायता का समर्थन कर दिया । मम्मट अलंकार की परम्परा से रस आत्मा का उपकारक स्वीकार करते हैं ।

यदि उह रस से, 'परम्परा' से' ही सही सम्बद्ध नहीं किया जाता है तो काव्य में उनकी व्ययता सिद्ध होती है और गुणीभूत रस आदि को अलंकार स्वीकार कर लेने पर 'अलंकार-अलंकार' सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता है। वज्रोत्तिकार इसी आधार पर रसवत् का खण्डन कर चुके थे। ऐसे घम सकट में मम्मट ने ध्वनिकार और अभिनव का माग छोड़ने में ही भलाई देखी और रसवादियों को अलंकार नहीं माना।^१ उन्होंने शीघ्र रस भाव आदि गुणीभूत व्यय के बदले 'अपराग' की साथ-साथ देकर सम्मिलित कर दिया है। यद्यपि इनकी मायता का भी साथ ही साथ उल्लेख कर दिया है। यह परिवर्तन मम्मट की वैज्ञानिक दृष्टि का ही सूचक है। इस 'रसवत्' का विशेष उल्लेख मध्यम-काव्य के विवेचन के प्रसंग में आये किया जायगा।

मम्मट नवीन मार्ग का अनुसरण करते हैं और बड़े साहस के साथ, परन्तु केवल नवीनता के लिये नहीं। उनका नूतन मार्गालम्बन कभी व्यावहारिकता की रक्षा के लिये होता है तो कभी वैज्ञानिकता के सन्निवेश के लिये, परन्तु ध्वनि का राज भाग कभी भी दृष्टि से प्रोक्त नहीं होता है।

ध्वनिकार ने ध्वनि का विवेचन किया। उह ध्वनि के पाँच अर्थ अभीष्ट हैं। इन पाँचों में एक का प्रयोग व्यञ्जना वृत्ति के लिए भी होता है। ध्वनिकार ने प्रथम उद्योग में ध्वनि की शक्ति से भिन्न सिद्ध किया है। वहाँ ध्वनि से उनका तात्पर्य 'व्यञ्जना-वृत्ति' से ही है, परन्तु व्यञ्जना वृत्ति का उहाने शब्दों की उल्लेख नहीं किया है। मम्मट को यह वृत्ति प्रतीत हुई। व्यञ्जना के सुकुमार बुद्धि वाले अध्येताओं के लिए ऐसे स्थल शकारूप हो जाते हैं। मम्मट ने स्वयं काव्यप्रकाश में व्यञ्जना-वृत्ति के इस रूप को पूर्ण रूप देने का प्रयत्न किया है।

व्यञ्जना का बहान और विवेचन अभीष्ट होने पर भी अभिधा, लक्षणा, और तात्पर्या नामक शब्द-शक्तियों का विवेचन भी प्रासंगिक हो जाता है। ध्वनिकार ने इस तथ्य की ओर भी दृष्टिपात नहीं किया था। इन शब्द शक्तियों का परिचय और विवेचन व्यञ्जना के स्वरूपबोध की सरलता के लिये है। व्यञ्जना तो चौकी शक्ति है उनका अन्तर्भाव प्रथम तीन शक्तियों में अतन्मय सिद्ध करने के लिए भी इन शक्तियों का स्वरूप बोध आवश्यक है। ध्वनिकार से पूर्व अभिधा और लक्षणा का काव्यक्षेत्र में प्रदाण हो चुका था। इन तथा कई अन्य कारणों से मम्मट ने अभिधा लक्षणा का सप्रसंग विवेचन किया है और तात्पर्या की ओर संकेत भी। यह वृत्ति विवेचन भी मम्मट ने पांडित्य आदि प्रशंसन के लिये नहीं किया है वस्तुतः ध्वनि का माग सरल और प्रशस्त करने के लिए ही किया है।

व्यञ्जना के साथ-साथ अन्य तीन शक्तियों का विवेचन होने से व्यञ्जना के स्वरूपबोध में सरलता तो हुई लेकिन उनका व्यञ्जना से सम्बन्ध स्थापित करने की भी आवश्यकता उपस्थित हो गई। मम्मट ने उस आवश्यकता का भी अनुभव किया और व्यञ्जना वृत्ति के शाब्दी रूप के अभिधामूला व्यञ्जना और लक्षणामूला व्यञ्जना भेद किये। इस भेद-विभाजन से अभिधा और लक्षणा का व्यञ्जना से सम्बन्ध स्थापित हो गया तथा सभी शक्तियों का क्षेत्र—विभाजन भी हो गया। इसी प्रसंग में अभिधा के वाच्यार्थ नियामकों का अट्टहरी के आधार पर उल्लेख

किया और प्रार्थी व्यञ्जना के वक्ता, बौद्धिक आदि अर्थ अभिव्यक्ति हेतुओं का भी उल्लेख किया है। व्यञ्जना की प्रतिष्ठा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक कार्य था।

इतना ही नहीं पंचम उल्लास के अन्त में पहुँच कर सभी विरोधी सिद्धान्तों का एकत्र निराकरण किया है। ध्वनिकार ने भी अभिधावादी, लक्षणावादी आदि विरोधी सिद्धांतों का यत्र तत्र निराकरण किया है, परन्तु उसको एकत्र करके प्रकाट्य तर्कों से व्यञ्जना की प्रतिष्ठा को अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा मानकर उत्तर देने का प्रयत्न मम्मट का अपना प्रयत्न है। सब प्रथम 'रसादि लक्षण ग्रन्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता' कहकर व्यञ्जना को अभिधा तथा लक्षणा से व्यतिरिक्त सिद्ध किया है। यही पर भीमासको के अभिहिता-व्यबाद और अभिविधाभिधानवाद में व्यञ्जना की सिद्धि थी, और वाच्याय तथा व्यायाय में अनेक रूप भेद दिखाकर व्याय बोध के लिये व्यञ्जना की प्रतिष्ठा की है। इसका विस्तृत उल्लेख इसी प्रबंध के द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

'ध्व-यालोक' तथा 'लोचन' के रचयिताओं ने 'ध्वनि सिद्धांत' का प्रतिपादन किया था, उन्होंने काव्य में भेदोपभेदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये थे। परन्तु मम्मट 'ध्वनि शास्त्र' की रचना कर रहे थे, उन्होंने काव्य के भेदोपभेदों के नामकरण, लक्षण, उदाहरण आदि प्रस्तुत किये और गद्यवृत्ति के द्वारा लक्षणों की उदाहरणों में समानि भी प्रवृत्ति की। ध्वनि के विकास क्रम में मम्मट का योगदान विशेष महत्वपूर्ण है।

काव्य की, भेदोपभेद-व्यवस्था में मम्मट ने दो प्रसंग ऐसे भी जोड़े जिनका समुचित औचित्य सिद्धाई नहीं पड़ता है। उनमें से एक है शब्दशक्त्युत्पत्त्यवस्तु व्यस्य का प्रसंग और दूसरा है अर्थशक्त्युत्पत्त्यवस्तु ध्वनि के कविनिबद्धवक्ता प्रतीतिमात्र सिद्ध भेदों की कल्पना। ध्व-यालोककार ने शब्दशक्ति से अलंकार ही व्यस्य माना है।

शब्दशक्ति से वस्तु ध्वनि ध्वनिकार एवं लोचनकार को माय नहीं है। इसका विशेष उल्लेख द्वितीय अध्याय में होगा। मम्मट ने शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि भी स्वीकार की है कविनिबद्धवक्ता प्रतीतिमात्र की मायना का पण्डितराज ने खण्डन कर दिया है। कविनिबद्धवक्ता कवि से अलग कैसे माना जा सकता है।

ध्वनि प्रतिष्ठा में विश्वनाथ का योग—

ध्वनि के विकास क्रम में विश्वनाथ का योगदान अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद में कायप्रकाशकार और ध्वनिकार के खण्डन में प्रदक्षित उत्साह की देखकर अभ्येता को दण्ड-दण्डन से नवीनता-दण्डन की जो भासा बंधती है वह धीरे धीरे क्षीण होकर निराशा में परिणत हो जाती है। काय का लक्षण निश्चित करने के पश्चात् 'अष्टादश भाषा धारविभासिनी भुजंग' और 'ध्वनि प्रस्थापनपरमाचार्य विश्वनाथ आचार्य मम्मट के शब्दों को ही दुहराते दिखाई पड़ते हैं। विश्वनाथ भी ध्वनिवादी आचार्य हैं। साहित्यदर्पण का भी ध्वनि प्रतिष्ठा में थोड़ा बहुत योग स्वीकार करना पड़ेगा, परन्तु उसमें ध्वनि को लेकर कोई विशेष स्थापना उपलब्ध नहीं होनी है। साहित्यदर्पण कायप्रकाश की अपेक्षा सरल शैली में लिखा ग्रन्थ है। इसलिए 'दर्पण प्रकाश दृष्टि के लिए आधार भयवा सीढ़ी अवश्य बन सका।

विश्वनाथ ने ध्वनि की प्रतिष्ठा में दो एक काय विशेष उल्लेखनीय किये हैं। यद्यपि वे दोनों नवीन नहीं माने जा सकते हैं, फिर भी अपनी सरल शैली में ध्वनि बोध के लिए अप्रसर होने वाले सुकुमारमति अध्येताओं के लिए उनका उपयोग कम नहीं है।

व्यजना वृत्ति ही व्यंग्य का बोध कराने वाली वृत्ति है। अब तक उसकी प्रतिष्ठा मली-भाति हो चुकी थी, काव्यक्षेत्र में व्यजना का सावभौमत्वं स्वीकृत हो चुका था, परन्तु उसका सक्षण अभी तक नहीं हो पाया था। सबसे पहले विश्वनाथ ने ही व्यजना वृत्ति का युक्तिसंगत सक्षण प्रस्तुत किया है।

अपना अपना अर्थबोधन कराके अभिधा आदिक वृत्तियाँ के दान्त होन पर जिससे अर्थ अर्थ का बोध होता है, वह शब्द में तथा अर्थोंदिक् में रहने वाली वृत्ति व्यजना मानी जाती है।^१ रीतिकाल में इस सक्षण का सबसे अच्छा अनुकरण हरिचरणदास के सभाप्रकाश में उपलब्ध होता है।

प्राचाय मम्मट तक व्यजना तृतीया वृत्ति मानी जाती थी। मम्मट ने 'तात्पर्या' वाक्य शक्ति की स्वीकार तो किया था, परन्तु 'अर्थभेद' बताते समय 'तात्पर्यार्थोऽपि केपुचित्'—कुछ लाग तात्पर्यार्थ को चौथे प्रकार का अर्थ स्वीकार करते हैं—बहुकर मौन हो गये थे। विश्वनाथ ने इस शक्ती को दूर कर दिया और 'तात्पर्या' शक्ति को तीसरी शक्ति मानकर व्यजना को चौथी शक्ति घोषित कर दिया। विश्वनाथ ने इसका संकेत 'लोचन' से ग्रहण किया था। इस स्थापना से व्यजना तृतीया शक्ति होकर तुरीया अवस्था की भाँति 'आत्मसाक्षात्कार' का दार्शनिक महत्त्व प्राप्त कर सकी।

प्राचाय मम्मट ने व्यजना को अनेक प्रकार से अभिधादि शक्तियों से भिन्न सिद्ध किया था। विश्वनाथ ने इस प्रसंग को सुकुमार बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रयत्न प्रयत्न किया है, और व्यंग्य का अभिधेय से भेद स्पष्ट करने के लिये कहा है—

बौद्धा, स्वरूप, सख्या, निमित्त, काय, प्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि की भिन्नता के कारण व्यंग्य वाच्याय से भिन्न है।^२ इनका संकेत वाक्य प्रकाश में अवश्य है परन्तु उन्होंने इनकी गणना करके भेद को स्पष्ट कर दिया है। इनका सविस्तार विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

ध्वनि सिद्धांत का विकास और पंडितराज

रस-गंगाधरकार के समय तक पहुँचते पहुँचते अलंकार शास्त्र पूर्ण परिनिष्ठित हो चुका था। काव्य के सभी सिद्धान्त आदि प्रतिवादियों के सघर्षों के पश्चात् प्रतिष्ठा पा चुके थे। फलतः पंडितराज ने अपनी मध्ययाय की शैली में उनका बहुत सुंदर एवं सफल परिष्कार किया है। विषय का प्रतिपादन अत्यन्त नया-तुला एवं प्रौढ़ है। अलंकार की शैली में वही भी सक्षिप्तता

१ विरतास्वभिधाद्यामु ययार्थो बोध्यते पर ।

सा वृत्ति व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च । सा० ८०, २, १२ ।

२ बोद्धृस्वरूपसस्यानिमित्तकायप्रतीतिकालानाम् ।

प्रायप्रविषयादीनां भेदादभिन्नो अभिधेयतो व्यंग्य ॥ सा० ८०, ५, २ ।

राज ने बड़े सम्बन्ध विवाद के पश्चात् स्वीकार किया है। उन्होंने सलक्ष्यक्रम व्यञ्ज्य के दशदशक्तिमूल प्रसंग में द्वितीय अप्राकरस्थिक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में काफी विचार किया है। इस सबका विस्तृत परिचय द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

मम्मट आदि आलंकारिकों ने अर्थशक्तिमूल सलक्ष्यक्रमध्वनि के बारह भेद माने हैं। उन्होंने कविनिबद्धवक्त प्रौढोक्ति निष्पन्न अर्थ को व्यञ्जक मानकर वस्तु और अलंकार के आधार पर चार भेद और बढ़ा दिये हैं। परन्तु पङ्क्तिराज की दृष्टि में कविकल्पित और कविनिबद्धवक्त कल्पित अर्थों में कोई भेद नहीं है। दोनों ही अर्थ कविकल्पना प्रसूत ही हैं। इस प्रकार के भेद मझाने से सख्या अनन्त हो सकती है।^१

पङ्क्तिराज का यह तक समीचीन है। ये चार भेद ध्वन्यालोक के 'तत्र वक्ता कवि कवि निबद्धो वा कश्चित्' के आधार पर अभिनवगुप्त ने माने हैं। उन्हीं का अनुकरण मम्मट एवं विश्वनाथ ने किया था। परन्तु ध्वन्यालोक का यह उद्धरण कारिका का अर्थ नहीं है दूसरे व्यञ्जक अर्थ के भेदों का उल्लेख करने के अवसर का भी नहीं है। सपटना की रस व्यञ्जकता सिद्ध करने के प्रसंग में उल्लेख है।

पङ्क्तिराज को शास्त्राभ्यास ध्वनि भी भाग्य है। यह दशगुणध्वनि बाधयमात्र में ही सम्भव है। लक्षणाश्रया ध्वनि के दोना भेद तथा अभिवाभ्यासाध्वनि के सलक्ष्यक्रम के दश भेद पद और वाक्य दोनों में होते हैं।^२ इस प्रकार पङ्क्तिराज के अनुसार ध्वनि के उन्तीस भेद होते हैं।

पङ्क्तिराज रस गंगाधर को पूरा नहीं कर पाये। फलतः उसमें व्यञ्जनावृत्ति का विवरण एवं उत्तमकाव्य के भेद उपलब्ध नहीं हैं।

यहां तक ध्वनि सिद्धान्त के ऐतिहासिक से पूर्व विकासक्रम का उल्लेख हुआ। रसगंगाधर कार और ऐतिहासिक के प्रथम ध्वनिवाणी आचार्य विनामणि समकालीन थे और दोनों शाहजहा के आश्रित थे। ऐतिहासिक से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले सभी ग्रन्थ संहिता में लिखे गये थे। चिन्तामणि से ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन हिंदी में भी प्रारम्भ हुआ। परन्तु हिन्दी के जिन आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन किया है उन्होंने मुख्यतया काव्यप्रकाश का ही अनुकरण किया है। कहीं-कहीं साहित्यदर्पण का भी आश्रय लिया गया है, परन्तु रस गंगाधर का उसकी न्यायवाय को सांकेतिक गणों के कारण अनुकरण न हो सका। काव्यप्रकाश सम अर्थवादी ग्रन्थ है। वस्तुतः इसी ग्रन्थ के कारण ध्वनि सिद्धान्त की स्थिरता मिली।



१ हिंदी रसगंगाधर पृ० २ 'प्रतिभा—भेदांतर प्रयोजकतापत्ते'।

२ तदेवमन्ते प्रागुक्ता द्रव्यतयातिरिक्ता सर्वेऽपि ध्वनय
एकस्मिन् वाच्ये यत्तेकपमात्रगतास्तदा पदध्वनितया व्यपदिशन्ते
नाना पदगताया नु वाक्यध्वनितयेति।

द्वितीय अध्याय

ध्वनि-सिद्धान्त-निरूपण

अध्याय का प्रतिपाद्य

ध्वनि-शब्द वयानरणो के स्फोट से ग्रहण किया गया है। उसका थोड़ा सा परिचय प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में दिया जा चुका है। उसी आधार पर ध्वनि के पाँच भ्रम किये जाते हैं जिनका उल्लेख भानन्द वदन के प्रसंग में प्रथम अध्याय में हो चुका है, यहाँ उनकी सक्षिप्त पुनरावृत्ति की जाती है। वे ये हैं —

(१) जो ध्वनि करे भ्रमवा कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि कहलाता है।

(२) शब्द की शक्ति उसका भ्रम भी व्यञ्जक होता है इसलिये व्यञ्जक भ्रम को ध्वनि की सत्ता प्रदान की जाती है। ये दोनों वस्तु प्रधान व्युत्पत्तियाँ हैं।

(३) जो ध्वनित किया जाय वह भी ध्वनि है। ध्वनि की इस व्युत्पत्ति से त्रिविध—(रस, भलकार वस्तु) व्यग्याय को भी ध्वनि माना जाता है। यह कम प्रधान व्युत्पत्ति है।

(४) शब्द की जिस शक्ति ने द्वारा व्यग्याय ध्वनित होता है उस शब्द-शक्ति को भी ध्वनि कहते हैं। ध्वनि की इस व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द की चौथी व्यञ्जना शक्ति भी ध्वनि कहलाती है। यह करण प्रधान व्युत्पत्ति है।

(५) वह काव्य भी ध्वनि कहलाता है जिसमें व्यग्याय प्रधान और चमत्कार युक्त होता है। ध्वनि शब्द की यह अधिकरण प्रधान व्युत्पत्ति है।

इस प्रकार व्यञ्जक शब्द और भ्रम, व्यग्याय, व्यग्य भ्रम को प्रकट करने वाली व्यञ्जना शक्ति एवं चमत्कारयुक्त और प्रधान व्यग्याय युक्त काव्य को ध्वनि नाम से पुकारा जाता है। ध्वनि शब्द की ये पाँचो व्याकरणिक भ्रम देखने के लिये एक दूसरे से भिन्न और भलग प्रवच्य हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप में एक दूसरे से इतने अधिक सम्बद्ध हैं कि एक का उल्लेख करते समय दूसरे का भावसे भाव ही ग्रहण हो जाता है। इसलिये ध्वनिवादो प्राचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त के निरूपण में प्रधानतया ध्वनि की तीन व्युत्पत्तियों को ग्रहण किया है, व्यग्याय का बोध कराने वाली व्यञ्जना शक्ति, व्यग्यार्थ और ध्वनि काव्य।

इस अध्याय में ध्वनि सिद्धान्त के अतन्त्र व्यञ्जना-शक्ति, व्यग्य भ्रम और व्यग्य-भ्रम सन्निविष्ट काव्य का ही अध्ययन किया जायगा। व्यग्य भ्रम में मुख्यतया रस का परिगणन

है मन्मा के सुख में भी विघ्न बन रही है। नायिका की चाटुकारिता ही व्यंग्य है। यह चाटुकारिता विधि नियम से उदासीन है,

(५) कभी व्यंग्याथ और वाच्याथ का विषय भी भिन्न होता है—

पेखि प्रियाघर बन सहित का कों होहि न रोप ।

भ्रमर सहित सूघत पबुम भरजो सह निज दोष ॥^१

इस दोहे का वाच्याथ तो एक ही है, परंतु इसका व्यंग्याथ नायिका, पति, उपपति, सहृदय आदि विषयों के लिये भिन्न है। अर्थात् वाच्याथ एक ही है परंतु व्यंग्यार्थ अनेक है। यथा—

- १ वाच्याथ—अपनी प्रिया व होठ को ब्रण सहित देखकर किस पति को श्लोघ न होगा। मैंने तुमको सुभ्रमर कमल सूँघने से रोका था। भव अपनी अविनय का फल भोग।
- २ पति विषयक व्यंग्याथ—इस बेचारी का दोष नहीं है फलतः इसके अघर के ब्रण को देखकर इस पर श्लोघ न करें।
- ३ सपत्नी विषयक व्यंग्याथ—नायिका को पति द्वारा उपासम्म दिये जाने पर सपत्नियों खुश हुईं। इसलिये प्रिया शब्द के प्रयोग से उसका सौभाग्य सूचित किया जा रहा है। पति इससे अति अनुरक्त है अतः श्लोघ कर रहा है।
- ४ प्रतिवैगिक विषयक व्यंग्यार्थ—पत्नी को गाढ उपासम्म दिये जाने पर पड़ोसियों को उसके चरित्र के विषय में शंका हुई। इस प्रकार उसकी अविनय को द्विपक्ष पड़ोसियों को उसकी निष्कलकता बताना व्यंग्य है।
- ५ नायिका विषयक व्यंग्यार्थ—सपत्नियों व मध्यम इस नायक न मेरा अपमान किया है यह जानकर तुम दुखी मत हो। यह तुम्हारा अपमान नहीं प्रत्युत सम्मान है। तुम इसे सहन करो।
- ६ उपपति विषयक व्यंग्याथ—आज तो आपकी प्रच्छन्नानुरागिणी की मैंने इस प्रकार रक्षा कर ली है। आगे इस प्रकार स्पष्ट दंतकत न करना।
- ७ सहृदय विषयक व्यंग्याथ—देखिये! किस प्रकार मैंने बात छिपा डाली। मैं कितनी चतुर हूँ।^२

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जिस वाक्या का वाच्यार्थ एक है उसके छ व्यंग्याथ हैं। ऐसे और भी उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि वाच्याथ से व्यंग्याथ नितान्त भिन्न है।

अभिधावादी मीमांसकों का सम्प्रवाद—

ध्वनिकार और लोचनकार ने अभिधावादियों की उत्तिया का खहन सलोप में ही किया है। काव्य प्रकाश और साहित्य-दपण में इनका विस्तृत खहन प्राप्त होता है। मीमांसकों में शब्द

और अथ के सम्बन्ध को प्रकट करने वाली शक्ति के सम्बन्ध में दो विभिन्न सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय शब्दा को वाक्य से स्वतन्त्र अथ प्रत्यायक स्वीकार करता है। ये पूव भीमासा के मानने वाले कुमारिल भट्ट के अनुयायी हैं। इनका अर्थ प्रत्यायक सिद्धान्त अभिहितावयवाद कहलाता है। इसी के मत में तात्पर्या शक्ति को अवकाश प्राप्त होता है। दूसरा सम्प्रदाय शब्द को वाक्य से स्वतन्त्र नहीं मानता है, वह मानता है कि अर्थ प्रत्यायक शक्ति अवित्त वाक्य में ही होती है। यह प्रभाकर भट्ट के अनुयायी भीमासको का अभिमत है। इसे अवित्ताभिधानवाद कहते हैं। निमित्तवादी और दीघतराभिधान्यापारवादी भी इसी के अन्तर्गत गृहीत होते हैं।^१ इस प्रकार भीमासको के निम्नलिखित पांच सम्प्रदाय हुए—

- (१) अभिहितावयवादी—कुमारिल भट्ट।
- (२) तात्पर्यवादी—घनजय धनिक।
- (३) अवित्ताभिधानवादी—प्रभाकर भट्ट।
- (४) शरद्वत् दीघतराभिधान्यापारवादी सम्भवतया भट्टलोत्प्लव।
- (५) निमित्तवादी।

अभिहितावयवाद का स्वरूप—

अभिहितावयवाद सिद्धांत के प्रवक्तक प्रसिद्ध भीमासक कुमारिल भट्ट हैं। कुछ नयायक भी इस मत को मानते हैं।^२ यह सिद्धांत वयाकरण वाजप्यायन के सप्तपवाद पर आधारित है जिसके अनुसार विभिन्न शब्दों का वाक्यार्थ ही मिलकर वाक्यार्थ होता है। इसके अनुसार वन वृक्ष से भिन्न नहीं है।^३ वह वृक्षों का समूह ही है। वृक्षों को जब दूर से देखा जाता है तो उनमें सामूहिकता का भ्रम उत्पन्न होता है। वस्तुतः वे वृक्ष ही हैं और वहां वृक्षों के अतिरिक्त वन नाम की कोई वस्तु नहीं है। वृक्षों के समूह की सरलता के लिये उसी प्रकार वन नाम दे दिया जाता है जिस प्रकार सनिकों के समूह को सेना कह लेते हैं।^४ एक कपड़े का टुकड़ा उन धागों से जिनसे वह बना है भिन्न नहीं है। एक धागे और कपड़े के टुकड़े में केवल यही अन्तर है कि कपड़ा अधिक स्थान धरता है। इसलिये यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि कि अक्षी में अक्ष की विशेषताओं के अतिरिक्त कोई विशेषता नहीं होती है।^५ उसी प्रकार वाक्य भी शब्दों का समूह है, शब्द उस वाक्य के जिसको वे गठित करते हैं अथ है। प्रत्येक शब्द का अपना अपना अलग अर्थ होता है। कोई भी शब्द अपने अर्थ के लिये दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं रखता। अथवान् शब्दों का जब आकांक्षा, योग्यता और सतिष्ठ के आधार पर प्रयोग होता है तब वे एक दूसरे से अन्वित होते हैं। यह ठीक है कि प्रत्येक शब्द का एक स्वतन्त्र अर्थ है, परन्तु वह शब्दार्थ अपूर्ण है, यह वाक्य में ही अवित्त होकर पूरुषता में प्राप्त होता है। पूर्ण अर्थ का बोध वाक्य के द्विना सम्भव नहीं है। अपूर्ण अथवान् शब्दों का पूर्ण अथवान् समुदाय ही वाक्य है। वाक्य को सघटित

१ लोचन, पृ० २२

२ इंडियन यियोरोज आफ मोनिंग, १ पृ० २०३।

३ श्लोक वार्तिक १८, ७५ ७६ द प्राबलम आफ मोनिंग म पृ० ७२५ पर उद्धृत।

४ वही, ७२।

५ द प्राबलम आफ मोनिंग इन इंडियन फिलोसफी, पृ० ६३।

करने वाले शब्द मुख्य है, वाक्य गौण है। किसी भी भाषा के अध्ययन क्रम में पहले शब्दों का अध्ययन होता है। जो वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ नहीं जानते हैं वे वाक्य का अर्थ भी नहीं समझ सकते हैं। ऐसा कोई वाक्य उदाहरण में नहीं दिया जा सकता जिसका अर्थ शब्दों का अर्थ बिना जाने समझ में आ जाय। कहने का अभिप्राय यह है कि शब्दों के अतिरिक्त वाक्य का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता है।^१ यही अभिहितावयवाद् की विचार भित्ति है। इस सिद्धान्त में शब्द की स्वतंत्र सत्ता मानी जाती है।

तात्पर्य-शक्ति का स्वरूप—

पद तीन हेतुओं के कारण अतिरिक्त होकर वाक्य की रचना करते हैं। वे हेतु हैं, आकाशा, योग्यता और सन्निधि। निराकाश शब्द हाथों, घोड़ा, घादमी आदि वाक्य नहीं बना सकते हैं। इनमें आकाशा का अभाव है। द्वितीय हेतु योग्यता है। भ्राम से सीबता है, वाक्य नहीं है क्योंकि भ्राम में सीबने की योग्यता का अभाव है। आकाशा और योग्यता के होने पर सन्निधि समीपता के अभाव में भी वाक्य पूरा नहीं होता है। यदि एक शब्द का उच्चारण करने के पश्चात् घण्टे भर बाद दूसरे शब्द का उच्चारण किया जाय तो वे दोनों वाक्य में बन सकेंगे। इस प्रकार आकाशा, योग्यता और सन्निधि के आभास पर बने वाक्य में दो प्रकार का अर्थ होता है, एक पदार्थ और दूसरा वाक्यार्थ। इसमें पदार्थ में सकृत् अर्थ सन्निविष्ट रहता है। अभिहितावयवादिओं के अनुसार अभिधा इसी अर्थ को प्रकट करती है। वाक्यार्थ को प्रकट करने की शक्ति इस अभिधा में नहीं होती है। वाक्यार्थ को तात्पर्य शक्ति प्रकट करती है। आचार्य शुक्ल ने तात्पर्य शक्ति को वाक्य की अभिधा स्वीकार किया है।

अभिहितावयवाद् और व्यञ्जना—

यदि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों की स्वतंत्र अर्थवान् इकाई स्वीकार नहीं किया जाता है तो उनका सज्ञा, सवनाम, क्रिया आदि में विभाग करना व्यर्थ और अनुपपन्न हो जायगा। यदि पदार्थ से वाक्यार्थ स्वतंत्र स्वीकार किया जायगा तो कोई भी वाक्य कोई भी अर्थ दे सकेगा, जो व्यवहार में देखने में नहीं आता है। अतएव वाक्यार्थ किंचित् भिन्न होते हुए भी पदार्थों का समुदाय ही है।^२ संक्षेप में यही अभिहितावयवाद् का सार है। इसमें अभिधा का सम्बन्ध शब्द के संकेतित अर्थ-बोध तक ही सीमित है। इसके अनुसार अभिधा भी शब्दार्थ का बोध कराके ही विरत हो जाती है उसमें वाक्यार्थ बोध की क्षमता नहीं है। व्यञ्जना शक्ति का उदय तो वाक्यार्थ के पश्चात् होता है। अतः शब्द के संकेतित अर्थ का प्रत्यायन कराके विरत हो जाने वाली अभिधा और वाक्यार्थ के पश्चात् उदय होने वाली व्यञ्जना समवक्ष नहीं मानी जा सकती है। अतः यह सिद्ध हो गया कि अभिहितावयवाद् में व्यञ्जना अभिधा से नितान्त भिन्न शक्ति है।

तात्पर्यशक्ति और व्यञ्जना—यह संकेत दिया जा चुका है कि अभिहितावयवाद् में वाक्यार्थ का बोध कराने से पूर्व ही अभिधा विरत हो जाती है। वाक्यार्थ का बोध एक दूसरी शक्ति से

होता है जिसको तात्पर्या कहते हैं। पीछे जो कपड़े और धागे का उदाहरण दिया गया है उसमें धागे और कपड़े में कोई विशेष मिश्रता नहीं है, परन्तु कपड़ा धागे की अपेक्षा अधिक जगह घेरता है। यह अधिक स्थान ही वाक्याथ के अधिक अर्थ को और संकेत करता है। शब्द का अर्थ अपूर्ण होता है और वाक्य का अर्थ पूरा। वाक्याथ में शब्द की अपेक्षा यही अधिक विशेषता है। यह अधिक अर्थ शब्दों के एक दूसरे से अविवृत होने के पश्चात् ही निकलता है। इसी को वाक्याथ, ससर्गाथ, अथवा तात्पर्याथ कहते हैं। वक्ता की विवक्षा यही है। यह कहना कठिन है कि वाक्याथ किस स्थान से निकलता है। वाक्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति की कुछ लोग वाक्य-शक्ति, कुछ वाक्य की अभिधा, कतिपय ससर्ग मर्यादा, अन्य तात्पर्या शक्ति कहते हैं।^१ जब विभिन्न शब्द अपने अपने अर्थों का प्रत्यायन कराके छात हो जाते हैं तब उनके अविवृत अर्थों से वाक्याथ का उदय होता है। इस ससर्गाथ की प्रतीति किस प्रकार होती है इसकी अभी तक कोई विवेचना नहीं हो सकी है और अभी रहस्य ही बनी है। यह स्पष्ट हो गया कि तात्पर्या शक्ति वाक्यार्थ का ही बोध कराती है। वह वाक्य शक्ति है। इसलिये यह तात्पर्या शक्ति उस व्यञ्जना के समकक्ष किस प्रकार मानो जा सकती है जिसका उदय इसके विरत हो जाने के पश्चात् होता है। साथ ही 'यञ्जना का सम्बन्ध' शब्द से भी होता है तात्पर्या का सम्बन्ध वाक्य से ही होता है।

अलंकार-शास्त्र में सबसे पहले लोचनकार ने तात्पर्या शक्ति का उल्लेख किया है।^२ उन्होंने यही शब्द की चार शक्तियाँ गिनाई हैं—(१) अभिधा, (२) तात्पर्या, (३) लक्षणा और (४) व्यञ्जना। ध्वनिकार ने तीन ही शक्तियों को मायता दी है।

भोज ने व्यञ्जना का तात्पर्या शक्ति में अंतर्भाव करने का प्रयत्न किया। इसी पक्ष का समर्थन जयन्त भट्ट ने अपनी 'याग मञ्जरी' में किया है।^३ भोज के पश्चात् धनञ्जय और धनिष् ने तात्पर्या में व्यञ्जना का अंतर्भाव करने का असफल प्रयत्न किया है। ध्वनिकार ने वाक्याथ वाक्याथ और व्यङ्गाथ में प्रदीप घट-न्याय स्वीकार किया है। अर्थात् जिस प्रकार दीपक और घट दोनों की स्वतन्त्र सत्तायें होती हैं उसी प्रकार वाक्याथ और व्यङ्गाथ की स्वतन्त्र सत्तायें होती हैं। जिस प्रकार दीपक घट की सत्ता का बोधक है उसी प्रकार वाक्याथ व्यङ्गाथ का। अतएव दोनों एक नहीं हो सकते हैं।^४ अभिनव गुप्त की स्वीकृति के पश्चात् परवर्ती ध्वनिवादी आलंकारिकों ने तात्पर्य शक्ति की स्वीकार किया है। ध्वनिवादी यदि अभिहितावयवादि की स्वीकार न करेंगे तो वे पद, पदाथ की 'यञ्जकता' कैसे स्वीकार कर सकेंगे। फलतः ध्वनिवादी अभिहितावयवादी ही हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि तात्पर्याशक्ति और व्यञ्जना समकक्ष नहीं मानी जा सकती हैं।

प्रभाकर भट्ट के अनुयायी भीमासक अचित्ताभिधानवादी कहलाते हैं। यह गुत्तमत भी माना जाता है ये विद्वान् शब्दों को ही भाषा के वास्तविक घटक स्वीकार करते हैं। प्रत्येक शब्द

१ इण्डियन यियोरौज आफ मोनिंग, पृ० २०६।

२ 'एकस्य ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्ति परस्परविवृते। लोचन, पृ० १६।

३ डा० बी० रायचन का श्रृंगार-प्रकाश, पृ० १६ इण्डियन यियोरौज आफ मोनिंग में उद्धृत।

४ ध्व० लो०, पृ० २३६।

का एक निश्चित अर्थ भी है परन्तु शब्द का वास्तविक अर्थ वाक्य में ही है। ये तात्पर्या शक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। शब्दबोध अर्थात् रूप में ही होता है। प्रभाकर के मत को काय प्रकाशकार ने विस्तृत रूप से दिया है, अतएव यहाँ उही के शब्दों का स्फुट प्रस्तुत करना ही हमें उचित प्रतीत होता है। 'शब्दों में सकेत-ग्रह अर्थात् रूप में वाक्य से ही होता है। उस सकेतग्रहण की निम्नलिखित प्रक्रिया है —

‘जब कोई बच्चा किसी युवक को आदेश देता है, ‘गाय लाम्रो’ और युवक उसकी आज्ञा से सास्नायुक्त प्राणी को ले जाता है। जब बालक इस वाक्य को कई बार सुनता है और गाय लाने की क्रिया को देखता है तो आदेश वाक्य, ‘गाय लाम्रो’ और गाय लाने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इस प्रकार बालक को प्रथमतः सकेतग्रह अर्थात्पत्ति की सहायता से असङ्ग वाक्य में ही होता है। इसके बाद वही बालक ‘गाय लाम्रो’ अथवा लाम्रो ‘गाय ले जाओ और ‘अथ ले जाओ आदि आदेश वाक्य बार बार सुनता है और आदेश के पश्चात् होने वाली क्रियाओं को देखता है और भिन्न भिन्न वाक्यों के भिन्न भिन्न शब्दों व भिन्न भिन्न प्रयोगों को सुनता है तब वह निवृत्ति और प्रवृत्ति (ले जाने और लाने) की क्रियाओं के द्वारा शब्दों के अभिधेय को भी समझता है। प्रारम्भ में वह अलग अलग शब्दों के जिस अर्थ को समझता है उसमें अव्ययास रहता है। अभिहितान्वयवाद में अभिधा अलग अलग शब्दों में सकेतग्रह कराती है और इस में अर्थ पदार्थावित शब्द में। इसलिये इस सिद्धान्त के अनुसार तात्पर्याशक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार बालक सकेत ग्रह में प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाणों का सहारा लेता है। किन्तु इस मत में एक कुरा हो सकती है कि गाय लाम्रो वाक्य में जो लाम्रो पद है वही ‘अथ लाम्रो’ में भी है। इस प्रकार प्रत्यभिधा के विश्वास से पूर्व पद—‘गाय लाम्रो वाक्यवाला पद का ही निश्चय होता है और उस पद के विनोद अर्थ की प्रतीति के लिए तात्पर्या वृत्ति मानने की आवश्यकता पड़ेगी। सिद्धान्तवादियों की ओर से इसका उत्तर यह है कि सकेतग्रह अर्थ पदार्थावित शब्दों में सामान्य प्रकार का होते हुए भी विशेष रूप का प्रत्यय कराता है।^१ वास्तविक दृष्टि से यह पक्ष अभिहितान्वयवाद से श्रेष्ठ है।^२ यही मत का सार है।

इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा शक्ति अर्थ पदार्थावित शब्दों में ही सकेत ग्रह कराती है और तात्पर्या शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रहती। वास्तव्यावृत्तगत शब्द में सकेतग्रह नहीं होता है इसलिए असंभवित होने का कारण अति विशेष वाक्यार्थ तो अवाच्य ही रहेगा। उसके पश्चात् प्रतीत होने वाले व्यंग्यास में तो अभिधावृत्ति का प्रसंग ही नहीं हो सकता। फलतः अभिधा अभिधान-वादियों के मतानुसार भी व्यञ्जना शक्ति अभिधा से भिन्न ही उद्हरती है।

दीर्घ दीघतराभिधा व्यापारवादी और व्यञ्जना—

इस अभिधाभिधानवाद की एक और शाखा है जो ‘यत्पर गच्छ ॥ शब्दाय तथा साऽयमिपोरिवदीघदीघतरा व्यापार’ मानने वाला है। इनका सकेत अभिधेयवस्तु न लाचन में दिया है।^३ अधिकतर विद्वान् इसे अटल लोल्लट का अभिमत स्वीकार करते हैं, परन्तु डा० एस० के० दे

१ काय प्रकाश पञ्चम उल्लास पृ० १११

२ अर्थ विज्ञान और व्याकरण-द्वय, पृ० ३२७

३ योप्यभिधाभिधानवादी यत्पर शब्द स शब्दाय इतिहृदये गृहीत्वा शरवदभिधा व्यापारमेव दीर्घमिच्छति। लोचन पृ० २२

इसकी सत्तास्पद मानते हैं।^१ ये साम व्यजना-वृत्ति को अभिधा में हो सञ्जिविष्ट करते हैं। इनकी मायता का खडन लोचन में भी उपलब्ध है। परन्तु काव्य प्रकाश में इनकी विरोध आलोचना की गई है अतः यहाँ पर उम्मी का सार दिया जाता है —

बलवान् योद्धा के द्वारा छोड़ा हुआ तोर अपने वेग नामक व्यापार द्वारा सन् के कवच को काटता है, उसके मम स्थान को विदीर्ण करता हुआ उसके प्राणों का हरण करता है। इसी प्रकार अभिधा व्यापार हो पदार्थ की उपस्थिति करता है और अवयवोप कराने व्यंग्याय की प्रतीति भी करता है। अभिप्राय यह है कि पदार्थ की प्रतीति कराने के पश्चात् वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति के बाद ही उसका विराम होता है। मोमासको की 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' वाली मायता का यहो मतभ्य है। किन्तु ध्वनिवादो इसका यह अर्थ करते हैं कि जो विषय है वही तात्पर्य है। वाक्यो में विधि ही माध्य है। वाक्य में वारक सिद्ध होता है और त्रिया साध्य। त्रिया की निष्ठि के लिए ही वारक का प्रयोग होता है। प्रधान त्रिया की निष्ठि के लिए वारको की अग्रणी क्रियायें भी होती हैं जो गौण त्रियायें हैं। यथा 'गाय सामो' आदेश के पालन में 'लाना' प्रधान त्रिया है और लाने वाला एव गाय का चलना गौण त्रियायें हैं। य गौण त्रियायें प्रधान त्रिया की निर्वाहक क्रियायें मानी जाती हैं, किन्तु अदृश्य-दहन 'याय से विधि प्रधान त्रिया में ही होती है, गौण क्रियायो में वहा हाती है, उनमें भी साध्या हो जाया करता है। उदाहरण के लिये 'लाल पगड़ी बाले श्रुतिक प्रचरण करते हैं' में प्रचरण तो अर्थ प्रमाण से निष्ठ है इसलिए 'लाल पगड़ी' में ही विधि है। इसी प्रकार 'दही में होम करें' में होम तो निष्ठ है केवल 'दही' ही विधि का विषय है। यदि कोई किसी जुनाहे से कहे कि 'लाल कपड़ा बुनो' तो यहाँ 'लाल' में विधि मानी जायगी। इनमें कभी एक वस्तु का विधान होता है, कभी दो का और कभी तीन का। फलतः जिसका विधान करना है उसी में विधि का तात्पर्य है। इस प्रकार उच्चारित शब्द का तात्पर्य अर्थ में ही होता है प्रतीयमान अर्थ में नहीं। यही 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' का तात्पर्य है। यदि उच्चारित शब्द का तात्पर्य प्रतीयमान अर्थ में भी स्वीकार कर लिया जायगा तो 'पूर्वोत्पत्ति' से अपर' इत्यादि में तात्पर्य हो जायगा। तात्पर्याय शब्दोपात्त अर्थ में होता है और प्रतीयमान उससे पथक रहता है। इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार भी अभिधा के द्वारा व्यंग्याय गताय नहीं सकता है।^२

इस पर पुनः पक्ष बाल की ओर से प्रश्न किया जाता है 'विष खालो और उसके घर मत खाना' वाक्य का तात्पर्य यह है कि इसके घर में नहीं खाना चाहिए। यही वाक्यार्थ है। परन्तु यह अर्थ शब्दा से प्राप्त नहीं होता है, लेकिन यह इस वाक्य का तात्पर्य तो माना जाता है। जब ऊपर के वाक्य की भाँति शब्दोपात्त अर्थ से भिन्न अर्थ अर्थ में तात्पर्य माना हो जा सकता है और उसमें अभिधावृत्ति से काम चल जाता है तब यह कहकर कि 'व्यंग्याय शब्दोपात्त नहीं है, तात्पर्याय से भिन्न कैसे जा सकता है। ध्वनिवादो इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं 'विष खालो और इसके घर मत खाना' इन दोनों वाक्यों को 'और' संयोजक अर्थ में आता है। इससे दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सूचित होती है। इसमें दो पूर्ण त्रियायें हैं 'खालो और मत खाना।' दोनों का अग्रणीभाव

1 This is dubiously ascribed to Lollat Sanskrit Poetics

नहीं हो सकता है। यह एक मित्र का कहा हुआ वाक्य है। इसलिए दोनों का भगानीभाव की कल्पना करनी पड़ती है। अतः इसका अर्थ होगा कि इसके घर में भोजन करना विष भक्षण से भी अधिक दोष युक्त है। यह अर्थ लक्षणा से निकलगा। इस प्रकार शब्दोपात्त अर्थ में ही तात्पर्य है, यह सिद्ध हो गया। यहाँ यह अभिधा से न मिलकर लक्षणा से मिलता है। व्यंजना लक्षणा से भी भिन्न है। इसलिये व्यंग्यार्थ का अभिधा से बोध सम्भव नहीं।^१

यदि शब्द सुन लेने के पश्चात् जितना अर्थ मिलता है उतने सब में अभिधा व्यापार ही मान लिया जाय तो 'हे ब्राह्मण! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है', अथवा 'तुम्हारी ब'या गर्भिणी है' इत्यादि वाक्यों से होने वाले हृष्य एव विषाद भी वाच्य हो जायेंगे। साथ ही लक्षणा की भी आवश्यकता न होगी। तात्पर्य, लक्षणा और व्यंजना सभी शक्तियों का अंतर्भाव अभिधा में ही हो जायगा। इसलिए व्यंजनाशक्ति माननी ही पड़ेगी।^२

निमित्तवादी और व्यंजना

मीमांसकों का एक सम्प्रदाय और है जिसे निमित्तवादी नाम दिया जा सकता है। लोचन कार ने अविताभिधान के प्रसंग में ही इसका उल्लेख किया है। काव्य प्रकाशकार ने भी इन्हें अविताभिधान और दीपतराभिधाव्यापारवादियों के मध्य में स्थान दिया है। ये लोग व्यंग्याय की प्रतीति के लिए काय कारण भाव को स्थापना करते हैं। इनके अनुसार व्यंग्यार्थ प्रतीति नमित्तिकी है और वाच्याय है उसका निमित्त। वाच्याय की प्रतीति शब्द से होती है अतः शब्द और व्यंग्याय में निमित्त-नमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार करने से व्यंजना व्यापार मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। वह काम भी अभिधा से ही सम्पन्न हो जायगा।

इसका खंडन करते हुये काव्य प्रकाशकार ने लिखा है कि निमित्त दो प्रकार का होता है १ कारक और २ जापक। मिट्टी से घड़ा बनता है इसलिये मिट्टी घड़े का कारक निमित्त है और दीपक अथवा रश्मि घड़े को प्रकाशित करता है इसलिये दीपक घड़े के लिए जापक निमित्त है। अभिधेय प्रतीयमान को उस प्रकार नहीं बनाता जिस प्रकार मिट्टी घड़े को बनाती है इसलिये दोनों में कारक निमित्त-सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यह ठीक है कि शब्द और वाच्याय व्यंग्याय को व्यक्त करते हैं। इनमें जापक निमित्त भाव भी नहीं हो सकता है क्योंकि दीपक पूर्व सिद्ध घड़े का जापक है, किन्तु व्यंग्याय पूर्वसिद्ध नहीं है, वह तो वाच्याय के पश्चात् प्रतीत होता है। अतः शब्द और व्यंग्याय में निमित्त नमित्तिक भाव मानना ठीक नहीं है।

व्यंजना से बोधों की नित्यानित्य व्यवस्था

इस सब कथन का निष्कर्ष यह है कि अभिधा के अतिरिक्त व्यंजना व्यापार मानना ही पड़ेगा। यदि व्यंजना व्यापार न माना जायगा तो दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था न हो सकेगी। श्रुति वदुत्व आदि दोष काव्य में अनित्य माने जाते हैं और च्युतश्रुति आदि नित्य। श्रुति-वदुत्व शृङ्गार रस में दोष स्वीकार किया जाता है। श्रुति वदुत्व वही होता है जहाँ महाप्राण, मूर्धन्य, द्वित्व आदि वयों का प्रयोग होता है। ये शृङ्गार और कर्षण में रस विधातक सिद्ध होते हैं इसलिये दोष स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु ये ही वीर और रौद्र रसों में भोज्यकारक होने के कारण गुण

१ काव्य प्रकाश पंचम उत्पत्ति, पृ० ११५।

२ वही, पृ० ११६।

हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि महाप्राण मूधय और द्वित्व वण भोज की व्यञ्जना करने में ही समर्थ हैं माधुय की नहीं। इसलिये दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था के लिये व्यञ्जना का मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार काव्य में कोई शब्द कहीं उपयुक्त प्रतीत होता है और प्राकरणिक प्रभाव में वृद्धि करने वाला सिद्ध होता है और दूसरा अनुपयुक्त। ब्रह्मचारी शकर पावती को शकर से विरक्त करना चाहते हैं। फलतः वे कहते हैं —

‘द्वय गत सम्प्रति शोचनीयतां समायमप्रार्थनया कपालिन’^१

यहाँ पर शकर के लिए ‘कपाली’ शब्द का प्रयोग किया गया है। कपाली से शकर के अधोरीपन, अशुचिरव आदि की व्यञ्जना होती है। इसी के स्थान पर यदि ‘पिनाकिन’ पद का प्रयोग कर दिया जाय तो उपयुक्त व्यंग्याय को प्रतीति न होगी। ‘पिनाकी’ पद शकर की बीरता, भोज आदि गुणों की व्यञ्जना करता है। यथ —

‘कुर्वा हरस्यापि पिनाकपाणे धयञ्जुति के मय धञ्जिनोऽय’^२

यदि ‘पिनाकपाणे’ के स्थान पर ‘कपालपाणे’ कर दिया जाय तो बीरता और भोज की होने वाली व्यञ्जना समाप्त हो जायगी। यद्यपि ‘पिनाकी’ और ‘कपाली’ शब्दों का अभिधेय शकर ही है और छन्द की दृष्टि से भी दोनों का गण यगण भी एक ही है। इसलिए व्यञ्जना जैसी शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी।

अभिधा और व्यञ्जना का अन्तर

साहित्य दर्पणकार ने अभिधा और व्यञ्जना में निम्नलिखित बातों में भेद स्वीकार किया है^३ —

१. **बोद्ध भेद**—वाच्याय की प्रतीति उन लोगों की होती है जो व्याकरण, बोध आदि प्रयोग का अध्ययन करते हैं। ये अध्ययन करने वाले वाच्याय में व्युत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु प्रतीयमान की प्रतीति के लिए पद पदार्थ ज्ञान के अतिरिक्त सहृदयता की महती आवश्यकता है। प्रतिमाशाली गृह्य को ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है।
२. **स्वरूप भेद**—कही वाच्याय विधि रूप होता है और कहीं व्यंग्याय निषेध-रूप, कही वाच्याय निषेध रूप होता है और व्यंग्याय विधि रूप आदि। यह अभिधा और व्यञ्जना का स्वरूप गत अन्तर है।
३. **सरया भेद**—‘सुय छिप गया है’ इस वाक्य का वाच्याय एक है किन्तु इसके व्यंग्याय अनेक हैं। यही वाच्याय और व्यंग्याय का सरया भेद है।

१. कुमार-सम्भव, ५. ७१।

२. वही, ३. १०।

३. बोद्ध स्वरूपसख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।

आश्रयविषयादीना भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्य ॥—सा० द०, ५।२०, पृ० २२०।

को मक्ति से भिन्न सिद्ध करने के लिये जो तक दिये हैं उनका सारांश यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है ।

सहकारी हेतु भिन्नता—

लक्षणा का सर्वप्रथम हेतु मुख्यार्थ वाच्य है । यह पहिले कहा जा चुका है कि लक्षणा की आवश्यकता वही होती है जहाँ तात्पर्य अनुपपन्न होता है परन्तु व्यञ्जना के लिए मुख्यार्थ वाच्य की कोई आवश्यकता नहीं है । गंगा में अहीर बस्ती है इस वाक्य में 'गंगा' का प्रवाह रूप अर्थ अवयव में वाचक होता है । अवयव सगति के लिये ही 'गंगा' पद से 'गंगा' के अभिप्रेय से सम्बद्ध 'गंगातट' अर्थ ग्रहण करके तात्पर्य की सगति स्थिर की जाती है । इसलिए 'गंगा' पद लाक्षणिक माना जाता है । 'सूय अस्त हो गया' यह एक ऐसा वाक्य है जिससे व्यंग्यार्थ प्रतीति तो हाती है परन्तु उपयुक्त 'गंगा में अहीर बस्ती है' वाक्य की भांति अवयव में बाधा उपस्थित नहीं होती है । मुख्य अर्थ का बाध लक्षणा का अनिवार्य सहकारी हेतु है, और व्यञ्जना में उसका अभाव है । व्यञ्जना के सहकारी हेतु प्रकरण आदि हैं जिनका धारो उल्लेख किया जायगा । प्रकरण के कारण 'सूय अस्त हो गया' इस वाक्य से अनेक व्यंग्यार्थों की प्रतीति होगी । फलतः सहकारी हेतुओं की भिन्नता के कारण लक्षणा और व्यञ्जना भिन्न भिन्न शक्तियाँ ही मानी जायगी ।

सम्बन्ध भेद—

लक्षक शब्द का लक्ष्यार्थ के साथ नियत सम्बन्ध होता है । उपयुक्त वाक्य में 'गंगा' पद लक्षक है और 'गंगा तट' उसका लक्ष्यार्थ है । गंगा का अपने तट के साथ नियत सम्बन्ध है । 'गंगा पद लक्षक होकर तट इत्यादि का ही बोधक हो सकता है । किसी असम्बद्ध पदार्थ का बोधक नहीं हो सकता है । इसके विपरीत 'सूय अस्त हो गया' इस वाक्य का प्रकरण के अनुसार 'सच्चा कीजिये, अभिसार का समय हो गया', 'गायो को घर ले चलो' आदि अनेक व्यंग्यार्थों की प्रतीति हो सकती है । उपयुक्त लक्ष्यार्थ की भांति यहाँ कथित वाक्य और व्यंग्यार्थ में कोई नियत-सम्बन्ध नहीं है । उसका नियत अनियत और सम्बद्ध सम्बन्ध भी हो सकता है । इसलिए दोनों शक्तियाँ भिन्न भिन्न स्वीकार की जायगी ।

निमित्त भेद और सत्त्वा भेद—

लक्ष्यार्थ का बोधक निमित्त वसे तो शब्द ही होता है परन्तु जहाँ वाक्य में एक से अधिक लक्षक पदों का प्रयोग होता है वहाँ परम्परा से वाक्य को भी लक्षक माना जा सकता है । इस प्रकार लक्षक दृष्टि से लक्षणा के दो ही लक्षक सम्भव हैं । एक शब्द और दूसरा वाक्य । लक्षणा का वाक्य से परम्परा सम्बन्ध है, साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । वाक्य में एक से अधिक लक्षक पद होते हैं । पदवादियों की दृष्टि में तो लक्ष्यार्थ का केवल शब्द ही लक्षक हो सकता है । वहाँ लक्षणा का केवल एक पदगत ही भेद सम्भव है । इसके विपरीत व्यंग्यार्थ के वण, पद्यांश, पद वाक्य, प्रबंध आदि अनेक व्यञ्जक होते हैं ।^१ इसलिए केवल शब्द लक्षित लाभार्थ और वण, पद्यांश पद आदि से अभियुक्त व्यंग्यार्थ एक स्वीकार नहीं किये जा सकते । फलतः लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है ।

विषय भेद—

लक्षणा का व्याप्य से विषयभेद भी है। लक्षणा में विषय का भिन्नता नहीं होती है। वह प्रत्यक्ष व्यक्ति के लिये एवं ही होता है जबकि एक ही वाक्य का व्याप्य भिन्न भिन्न व्यक्तियों का भिन्न भिन्न प्रतीत हो सकता है।

काल भेद—

लक्षणा और व्यञ्जना का एक भेदक तत्त्व यह भी है कि व्यञ्जना की सदा लक्षणा के पश्चात् ही अवसर मिलता है। 'गंगा मे आभीर बस्ती है' वाक्य में 'गंगा' शब्द तो 'गंगातट' का बोधक है परन्तु व्यञ्जना से तट वाक्य के पश्चात् जो क्षीयलता और पवित्रता का बोध होता है वह व्यञ्जना से होता है। लक्षणा से इस क्षीयलता और पवित्रता का बोध सम्भव नहीं है। जो विद्वान् प्रयोजन विशिष्ट लक्षणा को स्वीकार करते हैं उनका खड्ग करते हुये वाक्य प्रकाश-कार ने लिखा है, 'जब हम किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष करते हैं तो वह पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय होता है, परन्तु इस प्रत्यक्ष ज्ञान का फल ज्ञान के विषय से भिन्न वस्तु है। इस फल की भीमासक्त ताता और नयामिक 'सविस्ति' मानते हैं। मैं घड़े की देखता हूँ, इस उदाहरण में घड़ा ज्ञान का विषय है और देखन के पश्चात् होनेवाला 'सविस्ति' उससे विलुप्त भिन्न है। यह सविस्ति अथवा 'बोध देखन वाले कर्त्ता' की होता है। इसी प्रकार 'गंगा' पद का लक्ष्यार्थ गंगा तट हुआ। यहाँ उसका विषय हुआ। इसका फल क्षीयलता और पवित्रता हुआ। यह 'सविस्ति' विषय ज्ञान के सदा पश्चात् ही होगी। वह पहिले अथवा समकालिक कभी नहीं हो सकती है। ज्ञान का फल जो सविस्ति रूप होता है—का वाक्य सदा लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति से ही सम्भव है। यही कारण है कि लोचनकार ने लक्षणा को तृतीय कक्षानिवेशी माना है। अर्थात् दोनों में काल भेद भी है।

क्षेत्र भिन्नता अथवा अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति—

यदि लक्षणा में व्यञ्जना का अतिरिक्त स्वीकार कर लिया जाता है तो दोनों के क्षेत्र भी समान स्वीकार करने पड़ेंगे। इस प्रकार व्यञ्जना की स्थिति खड़ा लक्षणा के प्रसंग में भी माननी पड़ेगी। वह लक्षणा का क्षेत्र तो है परन्तु व्यञ्जना का नहीं है क्योंकि खड़ा लक्षणा व्याप्य रहित होती है। लक्षणा की दृष्टि से यहाँ अतिव्याप्ति दोष माना जायगा। अर्थात् लक्षणा के पूरे क्षेत्र में व्यञ्जना की अवसर नहीं मिलता है, वह तो लक्षणा के केवल एवं भेद प्रयोजनवर्ती में ही स्थान पाती है। टीका अस्तिमे के एक सारन में अव्याप्ति दोष भी आता है। वह इस प्रकार कि लक्षणा तो केवल लक्षणाभूता व्यञ्जना में ही व्यञ्जना का निमित्त बन पाती है, अभिधामूला व्यञ्जना में तो उसको कोई स्थान ही नहीं है। अर्थात् लक्षणा व्यञ्जना के पूरे क्षेत्र में नहीं जाती है।^१ फलतः क्षत्रा की भिन्नता के कारण भी व्यञ्जना लक्षणा से नितान्त भिन्न शक्ति है।

मकुलभट्ट का ध्वनि का लक्षणा में अतिरिक्त करने का प्रयत्न—

'अभिधावृत्तिमातृका के प्रणयन से पूर्व ध्वनि सिद्धांत का प्रतिपादन हो चुका था, परन्तु फिर भी मुकुलभट्ट नन्वनि का गौणी लक्षणा में अतिमान करने का प्रयत्न किया। लक्षणा पर विचार करत हुये उन्होंने लक्षणा के तान भेदक तत्त्व माने हैं—वक्ता, वाक्य और वाक्य।^२ परन्तु

१ अतिव्याप्तेरथा व्याप्तेनत्वासौ लक्ष्यते तथा। ध्व० १-१७

२ अभिधा वृत्तिमातृका, वा० ६

ये लक्षणा के निश्चित भेदक तत्व नहीं हैं, अपितु व्यञ्जना के निश्चित भेदक तत्व हैं। इनका उल्लेख आर्यी व्यञ्जना के प्रसंग में किया जायगा। आचार्य ने वस्तु निबन्धना लक्षणा का जो उदाहरण दिया है वह व्यञ्जना की वस्तु ध्वनि का है और उसकी प्रतीति वस्तु वशिष्टयुक्त आर्यी व्यञ्जना से होती है। आचार्य द्वारा स्वीकृत लक्षणा में लक्षणा के सहकारि हेतु मुख्यार्थवाच्य आदि नहीं मिलते हैं। वाक्य निबन्धना लक्षणा का जो उदाहरण दिया गया है वह श्लोकार ध्वनि का है, लक्षणा का नहीं और वाक्य निबन्धना लक्षणा का उदाहरण रस-ध्वनि का है। इस प्रकार नूतनतया उपस्थापित ध्वनि का उद्देश्य जो लक्षणा में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया वह असफल ही सिद्ध हुआ।

आचार्य कुतक—

यद्यपि आचार्य कुतक ने लक्षणा का उतना भी उल्लेख नहीं किया है जितना अग्निवादी मुकुल भट्ट ने फिर भी वृत्तिपथ विद्वान् उन्हें भक्तिवादी स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों में एका बलोकार विद्याधर और डा० हरिश्चन्द्र शास्त्री हैं।^१ कुतक ने उपचार वज्रता में ध्वनि के अविश्वस्तवाच्य भेद का समावेश करने का प्रयत्न किया है, उन्हें भक्तिवादी नहीं माना जा सकता है। वह वज्रोक्तिवादी है जो विचित्र अग्निधार रूप है। मुकुलभट्ट ने कहकर ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। कुतक ने ऐसी प्रतिज्ञा कही नहीं की है, उन्होंने तो ध्वनि के समान एक सबल सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उनको लक्षणावादी नहीं माना जा सकता है। **अनुमान और व्यञ्जना—**

अनुमान में भी व्यञ्जना का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। अनुमान ज्ञानापसर्गि का प्रमाण माना जाता है। अनुमान की सहायता से यथार्थ ज्ञान होता है। यद्यपि चार्वाक अनुमान की स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि अनुमान से केवल सम्भावित ज्ञान ही हो सकता है। अनुमान कभी भी निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता। यद्यपि यह भी एक प्रश्न है जिसका उत्तर सहज नहीं दिया जा सकता है। परन्तु चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय सम्प्रदाय अनुमान की स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।^२

ध्वनि विरोधियों में केवल महिमभट्ट ने ही सम्पूर्ण ध्वनि के भेद प्रभेदों का अन्तर्भाव अनुमान में करने का प्रयत्न किया है।^३ इसलिये उनके ही उदाहरण और तर्कों का अध्ययन आवश्यक है।

महिम भट्ट कादमीर के शव परम्परा के अनुयायी होने के कारण रस का विरोध न कर सके। रस काय के साररूप में भी उनको स्वीकार्य है। यद्यपि ध्वनिवादी रस मायता और उनकी मायता में थोड़ा अन्तर अवश्य है। उनकी शान्तवली में कहीं-कहीं ध्वनिकार का अनुभूतन सा जान पड़ता है। जस, वाक्याय में वसा आस्वाद नहीं है जसा उस प्रतीयमान में है।^४ इस बात को उन्होंने

१ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत, पृ० २७७

२ अग्निवा-वृ० पृ० २१

३ भारतीय तन्त्रशास्त्र, पृ० १४

४ यत्तिविवेक, पृ० १-१

५ वाक्यो हि अर्थो न तथा स्वदत्त यथा स एक प्रतीयमान। ध्वनि० सम्प्रदाय, पृ० ३०४

दुहराया भी है।^१

अथ के भेद करते हुए महिम भट्ट ने कहा है कि अथ दो प्रकार का होता है, वाच्य और अनुमेय। वाच्याय बाद व्यापार का विषय होता है। यही अथ मुख्य है। इसी लिगभूत वाच्याय की सहायता से जो अर्थांतर की प्रतीति होती है उसे अनुमेय कहते हैं। यह अनुमेय अथ तीन प्रकार का है वस्तुमात्र, अलंकार और रसादि। इनमें से प्रथम दो वाच्य में भी हो सकते हैं तृतीय तो अनुमेय ही है।^२

उपयुक्त कथन से यह निष्कप निकला कि अनुमानवादी व्यक्ति विवेककार अभिधेय को ही मुख्य मानते हैं। काव्य में वाच्याय के प्रतिरिक्त जिस अर्थांतर की प्रतीति हाती है वह अनुमेयाय है। ध्वनिवादी व्यंजना को चौथी शक्ति स्वीकार करता है अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यंजना और चार प्रकार के अर्थ अभिधेय, लक्ष्याय, तात्पर्याय और व्यंग्याय। अनुमानवादी का केवल दो ही अर्थ माने हैं वाच्य और अनुमेय। कहने का अभिप्राय यह है कि वह लक्ष्याय, तात्पर्याय और व्यंग्याय सभी का अनुमेयाय में अन्तर्भाव करना चाहता है। लक्ष्याय में वाच्याय अनुपपन्न होता है। अनुमान में वाच्याय की अनुपपन्नता सहा नहीं हो सकती। इसलिये लक्ष्याय का अन्तर्भाव अनुमेयाय में नहीं हो सकता है। तात्पर्याय का सम्बन्ध केवल वाच्य से है। वह वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ बोध के लिए हेतु, व्याप्ति, परामर्श को आवश्यकता नहीं पड़ती है। अनुमेयाय सबदा यथार्थ ज्ञान ही होगा। वाक्यार्थ के लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिये तात्पर्याय भी अनुमेयाय से भिन्न ही है।

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को वस्तुमात्र अलंकार और रस भेद से तीन प्रकार का माना था उसी प्रकार महिमभट्ट ने भी अनुमेयाय को वस्तुमात्र, अलंकार और रस भेद से तीन प्रकार का माना है।

“यथार्थ में सबदा चमत्कार स्वीकार नहीं किया जाता है। कभी-कभी वह चारत्वहीन भी होता है, परन्तु अनुमेयाय में चमत्कार ही स्वीकार किया जाता है। यह भी दोनों में असामंजस्य की स्थिति है।

अनुमान प्रमाण की सहायता से ऐसे पदार्थों का ही बोध होता है जिनकी पूर्व सत्ता निश्चित है उन पदार्थों का ज्ञान जिनकी पूर्व सत्ता का निश्चय नहीं है अनुमान से सम्भव नहीं है। साथ ही इस ज्ञान के निश्चित हेतु होते हैं। व्याप्ति सबसे प्रथम हेतु है। दो सत्तात्मक पदार्थों के नियत सम्बन्ध ज्ञान को “व्याप्ति कहते हैं जो उसकी जीवन में बार बार देखने से होता है। इन नियत सम्बन्ध वाले दो पदार्थों में से प्रत्यक्ष पदार्थ अप्रत्यक्ष पदार्थ का लिग माना जाता है। व्याप्ति और लिग आदि का विचार ही परामर्श कहलाता है। परामर्श से ही अनुमेय का ज्ञान हाता है। जस

१ वाच्यो ह्यर्थो न तथा, चमत्कारमातनोति यथा स एव विधि निषेधादि वाच्याभिधेयता अनुमेयतावावतीर्ण इति। व्यक्ति० विवेक, पृ० ५४

२ अर्थोपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र व्यापार विषयो वाच्यः। स एव मुख्य उच्यते। ततएव तदनुमिताद्वा लिगभूताद्यदर्थोऽन्तर्गताः अनुमेयः। सच्च त्रिविधः। वस्तु मात्रमलंकारा रसादयश्चेति। तत्राद्यो वाच्यावपि सम्भवतः। अथस्त्वनुयय एवेति। व्यक्ति-विवेक, पृ० ३६

जीवन में अनेक बार घाम और धुँयेँ के नियत सम्बन्ध का ज्ञान हो जान पर वही पवत इत्यादि में धुआँ देखने पर वहाँ पर अप्रत्यक्ष अग्नि की सत्ता का ज्ञान हो जाता है। अग्नि के समान रस की पूष सत्ता नहीं मानी जा सकती है। रस की स्थिति तो उतनी ही देर की होती है जितनी देर उसकी अनुभूति होती है। न तो अनुभूति से पहले उसकी सत्ता है और न बाद में। दूसरे जिस प्रकार धुँयेँ का अग्नि से नियत सम्बन्ध है उस प्रकार कि ही विशेष विभाव इत्यादि का किसी विशेष रस से नियत सम्बन्ध नहीं होता है, इसका बोधक कोई निश्चित हस्तु सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में रसानुभूति को कदापि अनुमेय स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि यह ज्ञान हो भी गया है कि राम सीता से प्रेम करते हैं तो इतने ज्ञान से वह भाग्य प्राप्त नहीं हो सकता है जो रसानुभूति काल में प्राप्त होता है। यदि चार्वाक के सिद्धांत को माना जाता है तो राम सीता के प्रेम का निश्चयात्मक ज्ञान ही सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार अलंकार—ध्वनि का भी अनुमान से ज्ञान सम्भव नहीं है। वस्तु ध्वनि के कतिपय उदाहरण अनुमेयाथ में सम्मिलित किये जा सकते हैं, लेकिन जब रस बोध और प्राक्षिप्त अलंकार ज्ञान के लिये व्यञ्जना की स्वीकृति आवश्यक है तो वस्तु ध्वनि की अनुमेयाथ में सम्मिलित करने से कोई लाभ भी नहीं है। महिमभट्ट ने प्रायः वस्तु ध्वनि के उदाहरणों को ही अनुमेय में गताथ सिद्ध किया है।

इसलिये व्यञ्जना का अनुमान में अतर्भाव सम्भव नहीं है। व्यञ्जना को भिन्न शक्ति स्वीकार करना अनिवार्य है।

अलङ्कारबुद्धिवादी और व्यञ्जना—

अलङ्कारादी दो हैं—१ वेदांती और २ वैयाकरण। साधनकार एवं काव्य प्रकाशकार न दोनों मतों को एक साथ रखकर आलाचना की है। यहाँ पर दोनों के मनो की अलग अलग विवेचना की जायगी। यदा तो 'एवमवादितीयं ब्रह्म' ब्रह्म सत्य जगमिथ्या आदि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म का नित्यता, अलङ्कार और अद्वितीयता एवं सत्ता की अनित्यता आदि सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में नित्य और अलङ्कार ब्रह्म अलङ्कार बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य है। इसलिये अलङ्कार बुद्धि पर ब्रह्मात्मक वाक्याथ भी अलङ्कार ही सिद्ध हुआ। फलतः अलङ्कार अथ का बोधक निमित्त वाक्य भी अलङ्कार ही होगा। उसमें त्रियाकारक विभाग करना भी अनुचित है। क्रिया और कारक भाव धर्म धर्मिभाव के आधार पर ही सम्भव है और वह धर्म धर्मिभाव सत्ता के मिथ्या होने के कारण असम्भव है। ब्रह्म सभी धर्मों से परे है अतएव धर्म धर्मिभाव उसमें नहीं बन सकता है। जब धर्म धर्मिभाव न तो मिथ्या होने के कारण समार में बन सकता है और न निगुण होने के कारण ब्रह्म में ही सम्भव है तो पद-पदाथ की कल्पना भी असम्भव है। पद पदाथ विभाग से रहित अलङ्कार वाक्य ही अलङ्कार बुद्धि द्वारा अलङ्कार ब्रह्म का प्रत्यायक है। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्याथ बोध में बुद्धि त्रियाकारक-भाव ग्रहण नहीं करती अपितु एक रस अलङ्कार वाक्याथ ग्रहण करती है। इस प्रकार वाक्य ही वाचक है और सम्पूर्ण वाक्याथ ही वाच्य है। इस मत के अनुसार वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य अथवा उसमें भी भागे बढ़कर जितना अर्थ निवसता है वह सब अलङ्कार वाक्य का ही वाच्य है। उसमें वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य भेद करना अनुचित है। निष्कर्ष यह है कि व्यञ्जना शक्ति की स्वीकृति की इस मत में कोई आवश्यकता नहीं है।

इस का उत्तर आचार्य मम्मट ने इस प्रकार से दिया है —जो लोग असङ्ग वाक्य से असङ्ग वाक्याय के सम्यक् हैं उनकी भी दो दृष्टियाँ हैं—१ ब्रह्म दृष्टि और २ ससार दृष्टि । यह ससार-दृष्टि ही व्यवहार दृष्टि है । इस मायामय ससार के व्यवहार में उस अभेद दृष्टि से काम नहीं चलता जो असङ्ग ब्रह्म विपयिणी है । ससार के व्यवहार में आकर अनेकभेद प्रभेद कल्पना उन वेदातिथों को भी करनी पड़ती है । वे लोग भी इस लौकिक भेद प्रभेद कल्पना को व्यावहारिक सत्य मानते हैं और उसके अनुसार व्यवहार करते हैं । फलतः परमायत असङ्ग वाक्य में उन्हें भी पद पदाय विभाग अवश्य मानना पड़ेगा । पद-पदाय विभाग मानते ही व्यंग्याय और व्यञ्जना वृत्ति की स्वीकृति भी स्वतः हो जायगी ।^१

व्याकरणशास्त्र और व्यञ्जना—

नागेश के व्याकरण सिद्धांत मजूपा^१ से पूर्व व्याकरण में व्यञ्जना का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है ।^२ इसका थोड़ा सा संकेत कोण्ड भट्ट के व्याकरण भूषणसार में भी मिलता है । उन्होंने व्याकरणों के स्फोट में आलंकारिकों की ध्वनि को सवद स्वीकार किया है । इस सम्बन्ध में उन्होंने काव्य प्रकाश की वृत्ति का थोड़ा भाग्य दिया है । नागेश ने व्यञ्जना का अपने ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन किया है । और अन्त में यह मित्र किया है कि आलंकारिकों की भाँति व्याकरणों द्वारा भी व्यञ्जना की स्वीकृति आवश्यक है ।^३ उन्होंने व्यञ्जना का लक्षण भी सर्वांगपूर्ण दिया है ।

यह ठीक है कि व्याकरण शास्त्र में नागेश से पूर्व व्यञ्जना का विवेचन नहीं हुआ है । परन्तु यह भी निर्विवाद है कि काव्यशास्त्र में ध्वनि की प्रतिष्ठा व्याकरणशास्त्र की कृपा से हुई है । व्याकरणों के इस ऋण को प्रायः सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने स्वीकार किया है ।^४ ध्वनि की प्रेरणा व्याकरणों के स्फोट से प्राप्त हुई है और उसी से इसकी पारिभाषिक शाखावली भी ग्रहण की गई है । यही नहीं ध्वनि के विभिन्न रूपा का संकेत भी ध्वनिकारकों व्याकरणों से ही मिला । इसका विस्तृत विवेचन सोचनकार ने किया है ।^५ इस का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में है । व्यञ्जना पर स्फोट का इससे अधिक प्रभाव नहीं है । स्फोट व्याकरणों का वह सिद्धांत है जिसके आधार पर वे शब्द और ग्रन्थ का सम्बन्ध निश्चित करते हैं । साथ ही यह विचार भी करते हैं कि अनेक वर्णों से बना हुआ शब्द किस प्रकार पदाय का बोध कराता है, पद का पदाय से क्या सम्बन्ध है ? ये सभी प्रश्न अभिप्रेत से ही सम्बन्धित हैं । स्फोट का व्यंग्याय से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह भी सत्य है कि प्रतीक पदाय का व्यञ्जक माना

१ काव्य प्रकाश पंचम उल्लास, पृ० १२३ ।

२ There is no evidence to believe that vyanjana was ever recognised by the ancient Grammarians (Philosophy of Sanskrit Grammar)

३ व्याकरणानामयेत तस्वीकार आवश्यक । परमसंघ मजूपा, पृ० ६४ ।

४ सुधैर्व्याकरण प्रधानीमूत स्फोट व्याप्य व्यञ्जक शब्दस्य ध्वनि-व्यवहार कृत ।

५ लोकन, पृ० ५१ ५६ ।

जाता है, परन्तु पदार्थ व्यङ्ग्यार्थ न होकर अन्विष्टार्थ है। भाषा के अध्ययन में स्फोट सिद्धान्त न अनुपम योगदान दिया है।

अर्थापत्ति प्रमाण और व्यञ्जना—

मीमांसक प्रसिद्ध चार प्रमाणों—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और प्राप्त से भिन्न पाँचवा अर्थापत्ति प्रमाण और मानते हैं। न्यायिक अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वह अनुमान का ही भेद है। यदि अर्थापत्ति को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाता है तो यह सिद्ध किया जा चुका है कि उस अलंकार रूप व्यङ्ग्याय कदापि अनुपम नहीं है। इसलिये अनुमान को प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में असमर्थ सिद्ध करने पर 'अर्थापत्ति' स्वतः ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में असमर्थ हो जाती है। मीमांसका के अनुसार इसको अनुमान से भिन्न मानने पर इस पर विचार करना आवश्यक है। उनके मत से अर्थापत्ति में उपपाद्य नाम से उपपादक की कल्पना की जाती है।^१ अर्थात् जहाँ पर अर्थ अनुपपन्न होता है वहाँ पर इसकी सहायता से अर्थ की उपपत्ति सगति बिठाने वाला हनु की कल्पना की जाती है। जैसे, मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता। यहाँ पर बिना भोजन के स्थूलता को सगति नहीं बढाती, इसलिये देवदत्त के रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है। रात्रि भोजन की कल्पना से ही अर्थ की उपपत्ति बढ जाती है। इस रात्रि भोजन की कल्पना अर्थापत्ति से होती है। अनुमान की भाँति अर्थापत्ति में भी पूर्व सिद्ध एक प्रकार की व्याप्ति की आवश्यकता होती है। सत्कार में जो अधिक भोजन करता है वही मोटा देखने में आता है, यही पूर्व सिद्ध व्याप्ति है। इस व्याप्ति से परिचित जब यह जानता है कि मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है तो वह उस व्याप्ति के आधार पर रात्रि भोजन की कल्पना कर लेता है। त्रिविध व्यङ्ग्याय के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई पूर्व सिद्ध व्याप्ति नहीं होती है। यदि किसी प्रकार लोचनान्तरके अर्थापत्ति से वस्तुबोध स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी अलंकार बोध और उस बोध किसी प्रकार भी अर्थापत्ति से सम्भव नहीं है। विश्वनाथ न अर्थापत्ति को अनुमान के अन्तर्गत मानते हुये इसका इस प्रकार खटन किया है अर्थापत्ति पूर्व सिद्ध व्याप्ति के ऊपर अश्रित रहने के कारण व्यङ्ग्याय का बोध नहीं करा सकती। इसलिये उसका भी खटन ही गया। जैसे चन्न की जीवित मानने पर उसकी कहीं उपस्थिति अवश्य माननी पड़ेगी चाहे वह यहाँ गोष्ठी में अनुपस्थिति हो क्योंकि जो कोई जिंदा होता है वह कहीं न कहीं विद्यमान अवश्य होता है।^२ फलतः व्यञ्जना अर्थापत्ति से भी भिन्न है। अर्थापत्ति से भी त्रिविध व्यङ्ग्य का बोध सम्भव नहीं है।

यह निश्चय हो गया कि एक ऐसा भी अर्थ है जो न तो अन्विष्टा से सम्बन्धित होता है और न लक्ष्णों से अश्रित अपितु यञ्जना नामक शब्द की चतुर्थ वृत्ति से ही युक्त होता है। आचार्य विश्वनाथ ने व्यञ्जना की परिभाषा में इसी तथ्य का उल्लेख किया है कि अन्विष्टा इत्यादि शब्द शक्तियों के स्व स्व अर्थ की प्रकट कर विरत हो जाने पर जिस शक्ति से अर्थ अर्थ का बोध होता है। उसे 'यञ्जना' कहते हैं। कतिपय प्राचीन आचार्य यञ्जना को शब्द की शक्ति स्वीकार नहीं करते हैं। व्यञ्जना का शब्द से कितना सम्बन्ध है और अर्थ से कितना इस प्रश्न ने काव्यशास्त्रियों को विशेष उत्तमन में डाला है। दो एक आचार्य, कुतक, अप्ययक्षित आदि विद्वानों ने

१ उपपाद्य नामेनापपादक कल्पनमर्थापत्ति । वेदात्त परिभाषा ।

२ साहित्य पण्य, पञ्चम परिच्छेद पृ० २३५ ।

शान्ति व्यञ्जना को अस्वीकार करके प्रकारान्तर से उसे अथ-शक्ति हो स्वीकार किया है। इधर प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तलगे ने अपने एक लम्बे निबन्ध व्यञ्जना अर्थ का व्यापार है शब्द का नहीं। मे यही मत व्यक्त किया है कि व्यञ्जना को शब्द-शक्ति न मानकर अथशक्ति मानना चाहिये।^१ कविराज मुगारिदान के अलंकार अथ यद्दन्त यगोभूषण के संहृत अनुवादक रामकरण असोपा भी शब्द-शक्ति मूला व्यञ्जना स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं।^२ इससे विपरीत सभी ध्वनि वादी व्यञ्जना को शब्द-शक्ति स्वीकार करते हैं। मम्मट ने व्यञ्जना के शाब्दी और अर्थात् भेद करके शाब्दी के दो भेद माने हैं—१ लक्षणा मूला शाब्दी-व्यञ्जना और २ अभिधा मूला शाब्दी व्यञ्जना। लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना में शब्द का प्राधान्य होता है। क्योंकि लक्षणा मूला व्यञ्जना प्रयोजनवती लक्षणा के प्रयोजन को ही व्यक्त करती है। प्रयोजनवती लक्षणा के तीन आवश्यक तत्व हैं—१ सकेतिताय का बोध २ तत्सम्बन्ध और ३ प्रयोजन। इनमें भी प्रथम तत्व प्रमुख और द्वितीय और तृतीय गौण हैं। क्योंकि सकेतिताय के बोध होने पर ही उनको अवकाश प्राप्त होता है। सकेतिताय का शब्द से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। किसी विशेष शब्द का ही एक विशेष सकेतिताय अर्थ होना है। एक विशेष सकेतिताय अर्थ का निश्चित शब्द ही प्रकट कर सकता है। इसमें अव्यवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती। इसलिये लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना में शब्द का ही प्राधान्य मानना पड़ेगा अथ का नहीं। यह सत्य है कि लक्षणा मूला व्यञ्जना में शब्द परिवृत्ति सह होता है। गगाया धाये, मे प्रयोजनवती लक्षणा है। यहा पर 'गगा' शब्द के सकेतिताय अर्थ प्रवाह का बोध होता है। इसी शब्द के प्रयोग के कारण लक्षणा को अवसर मिलता है। परन्तु 'गगा' के स्थान पर उसके पर्यायवाची 'जाह्नवी' आदि शान्ति का भी प्रयोग किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द परिवृत्तिसह होने पर भी अर्थ की अपेक्षा प्रधान है। व्यञ्जना को शब्द-शक्ति स्वीकार करने का यह एक कारण है।

अभिधा मूला शाब्दी व्यञ्जना के भी तीन आवश्यक तत्व हैं—१ अनेकायक शब्द का प्रयोग २ प्रारणिक अथ अप्रारणिक अर्थ की प्रतीति ३ अलंकारान्तर की प्रतिभा। अनेकाय के शब्दों के प्रयोग में इसके अतिरिक्त दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ से कम दो अर्थ प्रारणिक हो अर्थात् वे दाना वत्ता और श्रुता को माय हो। जहा दोना अर्थ प्रारणिक माने जाते हैं वहा श्लेष अलंकार आश्रय होता है। यथा—

रावण सिर सरोज बन चारी ।

बली रघुवीर शिलीमुख घारी ।

इस अर्थालो में सिर सरोज रूपक को सार्थक सिद्ध करने के हेतु शिलीमुख के दो अर्थ बाण एव अमर प्रारणिक हैं अतः यहा श्लेष अलंकार है। बाण इसलिये प्रारणिक है कि यह राम रावण के युद्ध के समय की उक्ति है और अमर इसलिये प्रारणिक है कि वत्ता अथवा बलि का बाण के लक्ष्य सिर पर सरोज का आरोप अभीष्ट है। अतएव यहाँ 'शिलीमुख' शब्द के स्थान पर कोई दूसरा शब्द नहीं प्रयुक्त हो सकता है कारण यही एक ऐसा शब्द है जिसके दो अभीष्ट सकेतिताय अर्थ हैं बाण और अमर। इससे स्पष्ट है कि श्लेष में शब्द बदला नहीं जा सकता है। श्लेष की भाँति ही अभिधा मूला शाब्दी व्यञ्जना में भी अनेकायक शब्द परिवर्त्यसह होता है। शब्द के परिवर्त्यसह होने

१ ना० प्र० पत्रिका, वष ५३ १ २ ।

२ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त में उद्धृत, पृ० १६७ ।

के कारण ही इस व्यञ्जना को शाब्दी मानना पूर्ण युक्ति सगन है। शाब्दी के दोनो ही भेदों में शब्द का ही प्रामुख्य है और ये ही कारण है कि भाषायों ने व्यञ्जना को शाब्द गति ही स्वीकार किया है।

व्यञ्जकता में शब्द और अर्थ का साहचर्य—

मम्मट और विश्वनाथ ने व्यञ्जना के दो भेद (१) शाब्दी और (२) आर्थी माने हैं। यह विभाजन पूर्ण युक्ति-संगत है। कारण, व्यंग्याय को व्यञ्जकता में नयी गति की प्रधानता होती है, अथवा किसी अर्थ विशेष की। अर्थ को व्यञ्जकता पर विचार आर्थी व्यञ्जना के प्रसंग में किया जायगा। व्यंग्याय की प्रतीति में जब शब्द का प्राधान्य होता है वहाँ अर्थ की सहकारिता रहती है। जब अर्थ का प्राधान्य होता है और अर्थ गति से संकेतित होता है इसलिये शब्द का साहाय्य होता है। अर्थात् व्यंग्याय की प्रतीति में शब्द और अर्थ दोनों का साहचर्य विद्यमान रहता है। इसी आधार पर व्यञ्जना के शाब्दी और आर्थी भेद किये गये हैं। इनमें से शाब्दी व्यञ्जना का क्षेत्र आर्थी की अपेक्षा सीमित है। व्यञ्जना को अभिधा आदि की भाँति शाब्द गति ही मानना उचित है। कुछ विद्वान व्यञ्जना को अर्थ की ही गति स्वीकार करते हैं। परन्तु शब्द-शक्ति-पूर्ण व्यंग्याय स्वीकार करने पर उससे शाब्दी रूप का अपेक्षा सम्भव नहीं है। यह ठीक है कि व्यञ्जना का शब्द से वैसा सम्बन्ध नहीं है जसा कि अभिधा आदि अर्थ शब्द गति का। व्यञ्जना को शाब्द शक्ति मानना उचित ही है।

शब्द शक्ति का आर्थी भेद—

व्यञ्जना का शब्द से सम्बन्ध स्वीकार करने पर उसका आर्थी भेद करना भी वगैरहो मर्यादा से प्रतीत होता है। यदि उसका आर्थी भेद भी स्वीकार किया जाता है तो उसे शाब्दाय उभय की शक्ति मानना समीचीन होगा। इसका उत्तर काव्य प्रवाहकार न दिया है कि शब्द प्रमाण से ही सर्वेष्ट अर्थ जब दूसरे अर्थ का यत्न करता है तो व्यञ्जकता में प्राधान्य अर्थ का ही हो जाता है। यद्यपि शब्द का साहचर्य बना रहता है। प्रमाणात्तर सर्वेष्ट अर्थ व्यञ्जक नहीं होता है। इसलिये व्यञ्जना के शब्द-शक्ति होने हुये भी शाब्दी और आर्थी जैसे भेद भी उचित ही हैं।

शाब्दी व्यञ्जना और प्रकरण—

व्यंग्याय मात्र की प्रतीति प्रायः प्रकरण के कारण ही होती है। यहाँ पर प्रकरण का प्रयोग उपलक्षण के रूप में है। वक्ता, श्रोता की सभी स्थितियाँ, कथन भणिसा स्थान काल आदि का समावेश प्रकरण के भीतर ही होता है। इसी प्रकरण की सहायता से सहृदयों का व्यंग्याय की प्रतीति होती है। प्रसिद्ध भाषा—वैज्ञानिक ब्लूमफ़ाल्ड ने वक्त बोध यदि प्रकरण की महुता घोषित करते हुये कहा है 'यदि हम प्रत्येक वक्ता का स्थिति तथा प्रत्येक श्रोता की प्रतिपत्ति का पूर्ण ज्ञान हो, तो केवल इन्हीं दो वस्तुओं को हम किसी गान के अर्थ के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। केवल इन्हीं के आधार पर हम अपने अध्ययन के विषय का समस्त ज्ञान के अर्थ क्षेत्रों में अच्छी तरह अलग कर सकते हैं।' कतिपय पाश्चात्य विद्वान प्रकरण को केवल मानसिक प्रक्रिया

1 If we had an accurate knowledge of every speaker's situation and of every hearer's response —We could simply register these two facts as the meaning of any given speech—utterance and neatly separate our study from all other domains of knowledge

के रूप में ही ग्रहण करते हैं।^१ भारतीय काव्यशास्त्री भी वक्ता, श्रोता की बाह्य परिस्थितियों का वा भी प्रकरण के अंतर्गत ग्रहण करते हैं। देश, काल, चेष्टा अथ सन्निधि आदि ऐसी ही परिस्थितियाँ हैं जो बाह्य हो मानी जायेंगी। परंतु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि प्रो० टिचनर का मत भी अधिकांश में सत्य है। ये ही बाह्य परिस्थितियाँ वक्ता और श्रोता की मानसिक प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं और प्रभावित मानसिक प्रक्रिया ही व्यंग्यार्थ का कारण बनती है। रिचर्डस तथा आगडन भी प्रकरण को मानसिक ही मानते हैं, 'कोई वस्तु, किसी भाव को प्रतिपादित करती है, इसका अभिप्राय यह है कि वह किसी विशेष प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रकरणों में से एक है।'^२ वस्तुतः प्रकरण में वक्ता और श्रोता की बाह्य परिस्थितियाँ एवं उनको मानसिक प्रक्रियाओं को सम्मिलित करना समीचीन है। आठर एव बाह्य दोनों ही स्थितियाँ एक दूसरे से ऐसी जुड़ी हैं कि एकान्तिक रूप से प्रसंग करके नहीं देखी जा सकती। मम्मट ने प्रकरण वैशिष्ट्य का उल्लेख आर्थी व्यजना के प्रसंग में ही किया है। शाब्दी के प्रसंग में नहीं। विश्वनाथ ने इसी का अनुकरण किया है। क्या इसका यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शाब्दी व्यजना में प्रकरण की सहायता के बिना ही 'यथायथ बोध सम्भव है ? इस प्रश्न को काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका के टीकाकार गोविंद ठक्कुर ने उठाया है और उसका समाधान भी किया है। उनका कथन है कि 'आर्थी व्यजना में तो वस्तुवैशिष्ट्य ज्ञान की सहायता अपेक्षा है हा, किंतु शाब्दी में भी कभी कभी इसकी आवश्यकता होती है, उसमें उसका सहाय अनुपयोग सिद्ध नहीं किया जा सकता है।'^३ गोविंद ठक्कुर का मत समीचीन है। शाब्दी में भी प्रकरण की महत्ता है, यद्यपि वह आर्थी से अपेक्षाकृत कम है। यहाँ शाब्दीगत प्रकरण के उदाहरण दिए जाते हैं।

अभिधामूला शाब्दी व्यजना और प्रकरण—

अभिधामूला शाब्दी व्यजना में भी प्रकरण का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकरण के बदलने से यहाँ भी अर्थ में हरकेर हो जाता है—यथा—

भयौ अथ क कोपयुत के बीरो यहि बाल ।

मालिनि आज कहे न कयो बा रसाल को हाल ॥^४

यह नायिका की मालिनि-दूती के प्रति उक्ति है। नायिका का मुख्य मतव्य नायक का समाचार पूछने से है। दोहे में अथ, कोपयुत, बीरो, रसाल आदि द्वयवक शब्दों का प्रयोग है। मालिनि को सम्बोधित करने के कारण आम वृक्ष वाला प्राकरणिक अर्थ है और नायक वाला अप्राकरणिक। परंतु प्रकरण के बदलने पर अर्थात् उपयुक्त नायिका के स्थान में अर्थ व्यक्त की वृत्ता कर देने से नायक वाले अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति न हो सकेगी।

1 : I understand by contact simply the mental process or complex of processes
Ogden and Richard page 58

2 To say indeed that anything is an interpretation is to say that it is a number of psychological contents of a certain kind

—Meaning of Meaning page 5

३ अर्थव्यञ्जकतायावत्त वशिष्टादीनामावश्यकत्वमात्रम् ।

न तु शाब्दव्यञ्जनाया सवथानुपयोगः । ध्वनि सम्प्र० सि०, पृ० २८६

४ काव्य निणय, २१४५

संज्ञामूला शाब्दी व्यंजना और प्रकरण—

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना की भांति संज्ञामूलाशाब्दी व्यंजना में भी प्रकरण का महत्व पूर्ण स्थान है, परन्तु शाब्दी व्यंजना के दोनो भेदा में प्रकरण की वह महत्ता नहीं है जो आर्य व्यंजना में होता है।

संज्ञनता प्रकटित करी कियौ बहुत उपकार ।

ऐसो काजु करी सदा जीबो बप हजार ॥^१

यदि यह किसी अपकार करने वाला स कहा जायगा तो इसका विलुप्त विपरीत अर्थ होगा और यदि उपकारी के प्रति कहा जायेगा तो साधारण जैसा अर्थ है वही मुख्य होगा। इससे स्पष्ट हो गया कि प्रकरण का शाब्दी व्यंजना के व्यंग्य निगम में भी प्रमुख स्थान है।

अनेकायक शाब्दी के प्रसंग में अभिधेय नियामक—

शाब्दी 'यजना' में दो भेद हैं। १ संज्ञामूला और २ अभिधामूला। श्लेष की भांति अभिधामूला में भी ऐसे अनेकायक शाब्दा का प्रयोग होता है जिनको बदलना सम्भव नहीं है। प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ में सन्देह होने पर प्रकरण के साथ सहाय्य आदि नियामक तत्त्व भी सहायक होते हैं। ये अभिधेय अर्थ के नियामक हैं। अभिधेय की स्मृति ही विशेष स्मृति है। मम्मट ने इनका उल्लेख अभिधा के प्रसंग में तो किया है परन्तु इनके उल्लेख के पश्चात् यह कहा है कि 'इस प्रकार अभिधामूला का विवेचन किया'। इससे सभी रीतिकालीन भाषायों ने इनका उल्लेख व्यंजना के प्रसंग में किया है। इनका विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में होगा।

आर्य व्यंजना—

यह शाब्दी यजना के प्रसंग में कहा जा चुका है कि 'यजना' का शब्द से अधिकतर परम्परागत सम्बन्ध होता है। अभिधा इत्यादि की भांति शब्द से उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। इसीलिये कुछ विद्वान् व्यंजना को शब्दाति मानने तक में हिचकते हैं। वे उसे अर्थ शक्ति कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।^२ परन्तु जसा पहिल स्वीकार किया जा चुका है व्यंजना को अर्थ शक्तियों की भांति शब्द शक्ति मानना ही समीचीन है और शाब्दी 'यजना' की सत्ता भी स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यह भी सकेत किया जा चुका है कि शाब्दी 'यजना' का शेष आर्य व्यंजना की अपेक्षा सीमित है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का बोध शब्द से ही होता है परन्तु व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने के पश्चात् शब्द और अर्थ की बन्धी ही स्थिति हो जाती है जसी वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् पदार्थ की होती है। काय में इस व्यंग्यार्थ की प्रधानता भी होती है और इसी की रमणीयता भी। कायवर्त्ता कवि को ऐसे शब्द और अर्थ की पहिचान में विशेष यत्न करना पड़ता है जो उसके उस प्रधान और रमणीय व्यंग्यार्थ के प्रत्यायक हो सकते हैं, क्योंकि ऐसा कोई ही शब्द अथवा अर्थ होता है जो उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने में सफल होता है। वही का अभिप्राय यह है कि काय प्रणेता और काय अध्येता दोनों की दृष्टि से व्यंग्यार्थ प्रधान और

रमणीय होता है।^१ इसीलिये उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ उसकी प्रतीति कराके मौलता प्राप्त कर लेते हैं।^२ शब्द की व्यञ्जकता का उल्लेख हो चुका यहाँ पर अर्थ की व्यञ्जकता का विचार करना दोष है। अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—(१) वाच्य, (२) लक्ष्य और (३) व्यंग्य। ये सभी अर्थ-व्यञ्जक हो सकते हैं।^३ इसलिये आर्थी व्यञ्जना इन अर्थों की दृष्टि से तीन प्रकार की होती है। (१) जहाँ व्यंग्य की प्रतीति वाच्य से होती है वहाँ वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना मानी जाती है। (२) जहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीति में लक्ष्यार्थ व्यञ्जक होता है और व्यंग्यार्थ का उस वाच्यार्थ से केवल परम्परा सम्बन्ध रह जाता है वहाँ लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना होती है और (३) जहाँ व्यंग्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ हो व्यञ्जक है उसे व्यंग्य सम्भवा कहते हैं।

वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना—

जहाँ पर का य में सब प्रथम अभिधा शक्ति से शाब्द के संकेतित अर्थ का बोध होता है, तत्पश्चात् प्रकरणादि की पर्यालोचना से उसी मुख्यार्थ से अन्य अर्थ का बोध होता है, वहाँ वाच्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना मानी जाती है। इसका उदाहरण है—

अब तक अम्ब नहीं हुआ घर का कोई काम।

अब कह क्या करना मुझे, छिपता है दिनराज ॥

इस दोहे से सर्व प्रथम यह अर्थ बोध होता है कि अब तक घर का कोई काम नहीं हुआ है यदि कोई काम करणीय है तो बता दिया जाय क्योंकि सामकाल होने वाला है। परन्तु प्रकरण से जब यह पता चलता है कि कहने वाली पुश्तली है, तो पाठक को इस अर्थ की प्रतीति होती है कि वह सामकाल स्वर विहार का समय निगलना चाहती है। यह व्यंग्याय वाच्याय प्रतीति के बाद उसने द्वारा ही होता है। इसीलिये इस व्यञ्जना को वाच्य सम्भवा कहते हैं।

लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना—

जहाँ काय में सब प्रथम अभिधा शक्ति से मुख्यार्थ की प्रतीति होती है, किन्तु मुख्यार्थ के शाब्द के कारण वह अर्थ सग्न नहीं होता, तब मुख्यार्थ के योग से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, य प्रयोजनवती लक्षणा के ही स्थल होते हैं इसलिये लक्ष्यार्थ के साथ कोई न कोई प्रयोजन भी अवश्य ही विद्यमान रहता है। लक्षणा में प्रयोजन सबदा व्यंग्य ही होता है। यदि व्यञ्जना प्रयोजन में ही वृत्त्यकृत्य हो जाती है तो लक्षणा मूलशाब्दी मानी जाती है। उसका उल्लेख शाब्दी के प्रसंग में ही हुआ है। परन्तु जब लक्षणा के लक्ष्यार्थ से किसी अन्य व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तब लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना मानी जाती है। लक्षणा मूल शाब्दी में प्रयोजन व्यंग्य का सबंध शब्द से आर्थी के व्यंग्याय की अपेक्षा निकट का होता है। इसलिये उसे शाब्दी और इसे आर्थी माना जाता है। लक्षणा मूल शाब्दी व्यञ्जना और लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना का दूसरे शाब्दी में इस प्रकार कह सकते हैं। लक्षणा मूल शाब्दी व्यञ्जना में एक प्रयोजन रूप व्यंग्याय होता है। और लक्ष्य सम्भवा आर्थी में प्रयोजन के अतिरिक्त एक व्यंग्य और रहता है। अर्थात् शाब्दी

१ ध्वन्यालोक, १६१०

२ वही १२३

३ का० प्र० २ २८

म एक व्यंग्याय रहता है और आर्थी में दो व्यंग्याय ।' दूसरे व्यंग्याय का सम्बन्ध लक्ष्याय से रहता है इसलिये इसे आर्थी मानना ही सगत है ।

उदाहरण के लिए—

मोहित मैं चित व फिरो सखो निकु जन माँहि ।

भये अग अम स्वेदकन सहो मु प्रीतम माँहि ॥^१

मुख्याय—हे सखि तू मेरा हित करने के लिये मनोयोग पूबक कुज में घूमती रही । परिश्रम से यद्यपि तेरे शरीर पर श्वेदकण हो गये परन्तु वह प्रियतम न मिल सका ।

जब प्रकरण का पता चलता है कि नायिका ने दूती को नायक के पास भेजा था, परन्तु वह स्वयं उससे उपमुक्त होकर खोटी है । शरीर पर नख सत आदि हैं, निकु जो मैं घूमने की खरोंबें नहीं हैं और रतिझोडा के कारण श्वेद कण हैं घूमने के परियम के कारण नहीं हैं तो 'मोहित और 'चित व फिरी आदि का मुख्याय सगत नहीं होता, और विपरीत लक्षणा से निम्न लक्ष्याय की प्रतीति होती है —

लक्ष्याय—तूने मनोयोग पूबक मेरा काय नहीं किया है । ये श्वेद-कण भी परियम के नहीं हैं । प्रियतम के न मिलने की भी बात मिया है ।

प्रयोजन—तूने मुझसे सन्तुता की है । इसे मैं कभी मुला नहीं सकती ।

द्वितीय व्यंग्याय—तुम दानो ने मेरे प्रति अपराध किया है तुम दोनों का गुप्त प्रेम भी प्रगट हो गया है ।

व्याख्य-सम्भवा आर्थी—

कभी कभी काय म इस प्रकार के प्रसंग आते हैं कि मुख्याय अथवा वाच्याय की प्रतीति के पश्चात् प्रकरण इत्यादि की सहायता से एक व्यंग्याय की प्रतीति होती है । तत्पश्चात् इस व्यंग्याय से पुन अर्थ व्यंग्याय की प्रतीति होती है । जहाँ ऐसा अवसर उपस्थित होता है । वहाँ व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना मानी जाती है । वाच्य-सम्भवा में वाच्याय व्यंग्याय का व्यञ्जक होता है । लक्ष्य सम्भवा म लक्ष्याय और व्यंग्य सम्भवा में प्रथम व्यंग्याय द्वितीय व्यंग्याय का व्यञ्जक होता है, व्यंग्य सम्भवा आर्थी-व्यञ्जना वाच्य सम्भवा पर भी प्राधृत हो सकती है और लक्ष्य सम्भवा पर भी, परन्तु वाच्य सम्भवा व्यंग्य की व्यञ्जकता के अवसर अधिक मिलते हैं ।

उदाहरण—

स्वस्थ अचल पुरहनि पर बक ठहरातु ।

अनु पन्नां भाजन पर दर बरसातु ॥^२

नायक और नायिका एकांत रम्यस्थली में घूम रहे हैं । नायिका नायक से कहती है—

मुख्याय—देखिये, कमल पत्र पर बगुना कितना निश्चित और निश्चल बठा है, ऐसा प्रतीत होता है, मानी पन्ना के पात्र पर रख रखा है ।

प्रथम व्यंग्याय—दिखलाई पड़ने वाला बगुला कितना विद्यस्त और भय रहित है ।

१ सभा प्रकाश, ६।१८

२ साहित्य मुषा निधि, २।५१

द्वितीय व्याख्या—यह स्वयं इतना एकांत है कि पत्ता भी नहीं सझकता और बगुला आदि पक्षी भी निश्चिन्त और निभय रह रहे हैं, यह सहेट का सुन्दर स्थल है। तुम यहाँ नहीं आये, यदि आये होते तो बगुला आदि इतने निभय न होते। तुमने वचन भंग कर मुझे कष्ट दिया है और अपराध भी किया है।

इस उदाहरण में स्वयं और अचल शब्दा से निभयता और निजन्ता आदि का बोध होता है। प्रथम व्याख्या वाच्य-सम्भव है और द्वितीय व्याख्यान व्यंग्य सम्भव।

दूसरा उदाहरण—

सबै कहैं करतार को जग में बहुत प्रवीन।

यह रचना ताकी लखी राहु मूपु कुच कीम ॥^१

यह कवि की उक्ति है। राहु के हाथ नहीं है।

मूल्याय—ससार में विधाता को सभी बुद्धिमान कहते हैं। उसकी यह रचना कि राहु की पत्नी के कुच बिये, भली भाँति देख ली।

लक्ष्यार्थ—विधाता की सृष्टि समझ-बूझ के साथ नहीं हुई है। वह बड़ा भूल है। विधाता का भूलताधिक्य प्रयोजन है।

प्रथम व्याख्या—भूल की सभी रचनायें बेवगी और उल्टी होती है।

द्वितीय व्याख्या—यह व्याख्या प्रकरण के अनुसार अथवा वक्ता की स्थिति के अनुसार बदलता रहेगा। यदि वक्ता किसी राजा से पीड़ित दरबारी है तो यह राजा होने योग्य नहीं था आदि। व्याख्यान लक्ष्य-सम्भव व्याख्या से प्रतीत होता है। यह उदाहरण लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यञ्जना का माना जाना चाहिए अथवा व्यंग्य सम्भवा का, इसका निश्चय करना भी आवश्यक है। लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना में प्रयोजन के अतिरिक्त एक व्याख्यान और निकलता है अर्थात् उसमें प्रयोजन को मिला कर दो व्याख्याएँ प्राप्त हैं और लक्ष्य सम्भवा पर भावत में प्रयोजन को मिलाकर तीन व्याख्याएँ होती हैं। लक्षणाभूला शाब्दी व्यञ्जना में वक्ता अथवा कवि का अभिप्राय प्रयोजन-गत होता है, लक्ष्य-सम्भवा में द्वितीय व्याख्या-गत और लक्ष्य सम्भवा सबद्ध व्याख्यान-सम्भवा में तृतीय व्याख्या गत।

आर्थी व्यञ्जना और प्रकरण—

यह पहले देखा जा चुका है कि शाब्दी व्यञ्जना में प्रकरण बोध की आवश्यकता है, परन्तु शाब्दी की अपेक्षा आर्थी में प्रकरण-बोध की विशेष आवश्यकता है। शाब्दी में और आर्थी में यह एक विशेष भेद है। जहाँ कहा जाय में दो एक परिवृत्त्यसह शब्द के होते हुए भी व्याख्या प्रतीति में प्रकरण का विशेष महत्व हो तो उस आर्थी व्यञ्जना का ही उदाहरण माना जायगा, शाब्दी का नहीं। यदि कह दिया जाय कि आर्थी प्रकरण में ही व्याख्या का नियामक तत्व है तो अनुचित न होगा। यही कारण है कि मम्मटादि आचार्यों ने शाब्दी के प्रसंग में प्रकरण का उल्लेख न करके आर्थी के प्रसंग में ही किया है।

अर्थ-व्यञ्जकता के हेतु—

यह स्पष्ट हो चुका कि आर्थी व्यञ्जना में व्याख्यान की प्रतीति के हेतु प्रकरणादि हैं। प्रकरण

म निम्नलिखित का ग्रहण होता है—१ वक्ता, २, बोद्धव्य ३ वाक्य, ४ वाक्य, ५ वाच्य, ६ अयसन्निधि, ७ प्रस्ताव, ८ देश, ९ काल १० चेष्टा आदि ।^१ इन वक्तादि को विशिष्टता के कारण ही प्रतिभाशाली व्यक्तियों को व्यंग्याय की प्रतीति होती है । इन धर्म की व्यञ्जकता के विभिन्न हेतुओं के उदाहरण आगे दिये जायग ।

प्रतिभा भी व्यंग्याय बोध का हेतु—

काव्य प्रकाशकार ने स्वीकार किया है व्यंग्याय की प्रतीति वक्तादि की विशिष्टता से प्रभावशाली व्यक्तियों की ही होती है । तत्पर्य यह है कि वक्तादि की भाँति 'प्रतिभा' भी ध्वन्य-व्यञ्जकता का हेतु होती है । यह प्रतिभा पाठक और कवि भेद से दो प्रकार की है । कविगत प्रतिभा की कारयित्री नाम दिया जाता है और पाठकगत प्रतिभा की भावयित्री अथवा ग्राहयित्री । कविगत प्रतिभा को लोचनकार ने अप्रुव वस्तु निर्माण क्षमा प्रणा स्वीकार किया है । वस्तुतः यही प्रतिभा अनुभूत प्रसंगों को अप्रुव रूप में रखती है । इसी के कारण काव्य कर्ता महाकवि की पदवी प्राप्त करता है । महाकवि की वाणी स्वतः स्फुटित होती है और ऐसे काव्य की रचना करती है जिससे दिव्य आनन्द की स्वतः वर्षा होती रहती है । जिस प्रकार दुषारू गाय अपने बछड़े की तथ्या शात करने के लिये स्तन से बछड़े का मुँह लगते ही स्वतः ही दूध देने लगती है उसी प्रकार कवि-वाणी स्वतः ही पाठक को आनन्द रस प्रदान करती है । ध्वन्यालोककार ने कविगत प्रतिभा का उल्लेख करते हुये उसके लिए 'निप्यदमाना विवेचन का प्रयोग किया है ।^२ इस 'निप्यदमाना' पद की व्याख्या ॥ 'लोचनकार ने दिव्य आनन्द रस को स्वयं प्रस्तुत करती है, लिखा है ।^३ कारयित्री प्रतिभा का प्रभाव म कवि की वाणी पाठक को अविरल आनन्द घारा में मग्न गही कर सकती है । यही कारण है कि कालिदास आदि दो बार महाकवि हो गये हैं । जिस प्रकार कवि के लिये कारयित्री प्रतिभा की महती आवश्यकता है उसी प्रकार भावक के लिये भी भावयित्री प्रतिभा की । इसी से सम्पन्न पाठक को सम्पन्न ने अपनी कारिका में प्रतिभा जुषाम्=प्रतिभा सम्पन्न से ही अभिहित किया है । वाच्याय का ज्ञान तो शब्द और ग्रन्थ के सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्तियों की भी हो सकता है । दार्शनिक ग्रन्थों की संगति पाठ्य ॥ लग सकती है परन्तु काव्य का आनन्द बिना प्रतिभा के नहीं मिल पाता है । इस भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न काव्य परिशीलकों को सहृदय नाम दिया जाता है । सहृदय का स्वरूपोल्लेख करते हुये लोचनकार ने लिखा है 'जिन व्यक्तियों का मनोमुक्त काव्य के अनुशीलन तथा ग्रन्थास के कारण निमग्न हो गया है, जिन व्यक्तियों में काव्य के वणन विषय में तन्मय होने की योग्यता है, एवं जिनमें अपने हृदय में हृदय से सवाद प्राप्त करने की क्षमता है वे ही सहृदय हैं ।^४ यही अथ हृदय-सवाद माना जाता है जिसमें सहृदय का हृदय को तन्मय करने की शक्ति होती

१ वक्त बोद्धव्यकाव्यना वाक्यवाच्यार्थ सन्निधे ।

प्रस्तावदेशकालान्तेव सिष्यया प्रतिभाजुषाम् ॥

योऽयस्मात्पाषाणीहेतु व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।

—वा० प्र० ३-२१-२२ ।

२ प्रतिभा अप्रुव वस्तु निर्माणक्षमा प्रणा ।

—लोचन, पृ० ३४

३ ध्वन्यालोक, १-६

४ निप्यदमानेति दिव्यमानन्द रस स्वयमेव प्रस्तुतानेत्यथ

—लोचन, पृ० ३३

है और जिसकी चरणा ॥ उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है जिस तरह सूखे काष्ठ में अग्नि व्याप्त हो जाती है । रोमांचादि अनुभव इसी चर्खुआ का फल होते हैं ।^१ कवियाँ और पाठकों को प्रतिभा की प्राप्ति अभ्यास आदि के कारण नहीं होती हैं । इसलिए प्रतिभा को पूवजन्म का संस्कार माना जाता है । कविगत और पाठकगत प्रतिभा अथ की व्यञ्जकता का प्रातरिक हेतु है और वक्तादि बाह्य ।

१ वक्तृ वक्षिष्टय—काव्य परितोषन स प्रथम तो उसके मुख्याथ का बोध होता है, पुन उस वक्ता के स्वभाव आदि का । तत्पश्चात् काव्य के मुख्याथ से वक्ता के स्वभाव, उसके छोटा सम्बन्ध आदि की सगति बिठाने का प्रयत्न होता है । इस प्रयत्न में व्यग्याथ की प्रतीति होती है, यथा —

धीयम में दाघो रूप सरवर सूखे सध,
जस नरो भिरना तें आवतु भगर में ।
जहाँ जात आवत लगत काँट भारन के,
हों न जहाँ हों ही पानी पीवति हों घर में ॥
अति दूर ही स भरी गगरि स आवति हों,
छूटत पसीना कप धन धर धर ५ ।
बहति हों पुनि सामु मनब भुक न भोप,
जाऊँगी तो आऊँगी भरि दुपहर में ॥

पाठक की सब प्रथम इस छंद में मुख्याथ का ज्ञान होता है । मुख्याथ सरल एवं साधारण है । कहने वाली स्त्री अपनी पटोसिन से कह रही है । दूसरे क्षण में जब यह ज्ञान होता है कि कहने वाली अभिचारिणी है यो एक विधेय अथ वा प्रतीत होती है कि वह दुपहर में समय पानी लेन के बहाने नदी-तट पर अपने उपपति से मिलने के लिए जाना चाहती है और काँटों की खराबों से होने वाले नवलत तथा दंतशता को और परिधम-स्वेद स भावी रतिजय स्वद की छिपाना चाहती है । यही कहने वाली का मुख्य प्रमिप्राय है । कहने वाली के आचरण और स्वभाव से अपरिचित रहने पर हम व्यग्याथ की प्रतीति न हो सकेगी ।

२ बोद्धव्यवक्षिष्टय—जिसस बात कही जाती है उसे बोद्धव्य कहते हैं । जिस प्रकार वक्ता का स्वभाव और श्रोतृ-सम्बन्ध व्यग्याथ की प्रतीति में माधन वा काम करता है उसी प्रकार बोद्धव्य स्वभाव और व्यवहार भी । इसीलिये यहाँ बादव्य वक्षिष्टय के कारण व्यग्याथ की प्रतीति स्वीकार करते हैं । इसका उदाहरण यह है —

१ यथा बाभ्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वणनीय तमयी सदन योग्यता ते स्वहृदय सवादभाज सहृदया । यथोत्तम—
योऽर्थो हृदय सवादी तस्य भावो रसोदभव ।
शरीर व्याप्ते तेन शुष्क वाष्पमिवाग्निना ॥ चोबन, पृ० १३
२ वही,
३ कवि, कुल-चल्पतरु, १।२४

दूबरी भया है देह नींव सों तजो सनेह
हिय भो बिरह गहे चिन्ता अधिकात है ।
‘श्रीपति’ सुजान भनि जनन अनेकन तौ
बासर बिहात तौ य राति न बिहाति है ॥
हरिये कराहि क मुकहिमे परोसिन सों,
सहिये परम दुख बछूना बिसाति है ।
हों ही भदभागिनी हों बडरों अभाग जागौ,
मेरो दुख बैलि भाली प्रति बिलखाति है ॥

नायिका की दूती नायक के पास आती जाती है । कलाप्रमानुसार उसके हृदय में भी नायक के प्रति अनुराग का झुनझुन जम गये हैं, कामोपशोष की दृष्टि का भी उदय हो गया है अतः दूती को वही स्थिति हा रही है जो प्रेम के उदय से होती है । नायिका को इसका पता लगाने पर दूती से कहती है । मुख्याय के पान होने के पश्चात् जब इस प्रकरण का पता चलता है तो नायिका के इस साधारण लगने वाले कथन से तीव्र एवं तीव्र उपालम्भ-रूप, व्यंग्याय की प्रतीति होती है । दूती की नायिका के प्रति सापराधता जान पड़ती है ।

३ काकु वणिप्य से—जहाँ वाक्य में गल के स्वर भद से पाठ करने पर ही अर्थ अर्थ की प्रतीति होने लगती है वहाँ काकु-वणिप्य व्यंग्य माना जाता है । काकु वणिप्य से प्रतीति होने वाला व्यंग्य वही प्रधान और अस्कारक मुक्त होने से ध्वनि-काव्य भी होता है और कही अप्रधान तथा वाक्याय का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत व्यंग्य । जहाँ वाक्याय की पूर्ण विश्रान्ति के द्वारा प्रदान किया जाता है और उसका उत्तर वाक्याय से नितान्त भिन्न रहता है और वाक्याय व्यंग्य का उपस्कारक हो जाता है वहाँ ध्वनि-काव्य माना जाता है ।^१ वह व्यंग्यार्थ प्रधान रहता है । यथा —

कुचन दुसासन महीपत तभा में गहो,
हुपव सुता भी और जग हाहा खात भी ।
ध्यायन के साथ कस्यो जग में निबास भयो,
बदपुल असन बसन तद्वत्त भी ।
श्रीपति भनत जाइ रहे हैं बिराट गेह
जिहि दिन दिन अनुचित अधिकात भी ।
तापर तजत गया करिके सुभोधन य,
धरम सत्य राजा भों पर रिसात भी ॥^२

काव्य प्रकाश में काकु-व्यंग्य ध्वनि का जो उदाहरण दिया गया है वह वही सहार नाटक में सहदेव के प्रति भीमसेन की उक्ति का है । काव्य-सरोजकार श्रीपति न उसी उदाहरण का

१ काव्य-सरोज, ३-८८

२ प्रानमानेलापि वाक्का विधान्ते ।—का० प्रकाश, पृ०

३ काव्यसरोज, ३ ८६

यह हिंदी रूपान्तर प्रस्तुत किया है। 'सहदेव से भीमसेन ने कहा कि श्रीकृष्ण जिस सचि को बरने गये हैं उसको मैं नहीं करने दूँगा, तो सहदेव ने अनुनय करते हुए कहा, आप ऐसा न कहें भयया बड़े भाई युधिष्ठिर प्रप्रमथ होंगे।' उस समय भीम ने कहा, 'क्या बड़े भाई प्रोध करना भी जानते हैं? उसके बाद उन्होंने दुर्योधन द्वारा किये गये उपकारों का स्मरण कराके काकु से कहा कि इतने प्रपकारी दुर्योधन पर तो वह आज भी कृपा दृष्टि से दखते हैं और मुझ पर प्रोध करेंगे।' पूज्य बड़े भाई का दुर्योधन के प्रति प्रोध करना उचित था वहा तो वे कृपा दृष्टि करते हैं और जिस पर कृपा-दृष्टि रखनी थी, उस पर प्रोध करते हैं। यह उनका व्यवहार अनुचित है। व्यंग्य वाच्याय से स्वतन्त्र है और उसकी प्रतीति काकु से होती है।

४ वाक्य-वैशिष्ट्य से—जब छंद म प्रयुक्त वाक्य स हो व्यंग्याय की प्रतीत होती है तो उसे वाक्य वैशिष्ट्यया धार्मी कहते हैं। यथा —

इकटक हग द स्वरुद्ध बधि निरखत है मो हार।

बही हार बाही समैं सखत म पहा बिचार ॥^१

नायिका के हार में उसकी सखी का प्रतिविम्ब पड़ रहा था जिस नायक टकटका लगाकर देख रहा था। उसके भयन्न चले जाने पर उसन अब दृष्टि हटानी तब नायिका ने उससे यह कहा। यहाँ पर 'यम्याय की प्रतीति इसी वाक्य के सहारे होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि नायक उस सखी पर आसक्त है।

५ वाक्य-वैशिष्ट्य से—काव्य में कभी कभी 'यम्याय की प्रतीति वाक्य की विशिष्टता से होती है। प्रयात् प्रयुक्त शब्दावली का मुख्याय ऐसा निकलता है जो अपनी विशेषता से व्यंग्य की ओर संकेत करता है। वाक्य वैशिष्ट्य म व्यंग्याय की प्रतीति वाक्य के गठन से होती है और वाक्य वैशिष्ट्य में मुख्याय की सहायता से। दोनों म बहुत सूक्ष्म अन्तर है। हिंदी के ऐतिहासिक ध्वनिवादी भाषाओं ने प्रायः वाक्य वैशिष्ट्य क संस्कृति-प्रयोगों म दिय गये उदाहरणों के अनुवाद भर कर दिये हैं और वाक्य-वैशिष्ट्य क स्वतन्त्र उदाहरणों की रचना का प्रयत्न भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। यथा —

भीन अँध्यार हैं चाहि अँध्यारो खेलेली के पुज के पुज बने हैं।

बोलत मोर करें पिक सोर जहाँ तहाँ गुँजत और घने हैं ॥

दास रछी अपने ही विलास की रैन जू हाथनि सी अपने है।

अन कसिंदजा के मुख भूल सतानि के दृढ़ वितान सने हैं ॥^२

नायिका नायक से भयना नायक नायिका से यमुना-तटवर्तिनी किसी एवान्त रम्य स्थली का वणन कर रहा है। इस छंद के मुख्याय से ही वक्ता की विहार की इच्छा व्यंग्य है। वाक्य वैशिष्ट्य के उदाहरणों म रम्य स्थली, वर्षा और वसंत प्रादि का ही प्रायः वणन मिलता है।

६ अय सन्निधि वशिष्ट्य से—कभी कभी काव्य म वक्ता और बोद्धव्य के बीच में ऐसा व्यक्ति खड़ा कर दिया जाता है जिसकी उपस्थिति म वक्ता बोद्धव्य को अभीष्ट प्रसंग का

उल्लेख मुख्याय द्वारा न कराके व्यङ्गाय द्वारा कराना ही उचित समझता है। व्यङ्गाय की प्रतीति में इसी व्यक्ति की सन्निधि ग्रथवा सामीप्य माधन वा काम करता है। अतएव इसकी ग्रथसन्निधि की विशिष्टता स्वीकार किया जाता है। यथा—

नाहू नेह सायो सरस नकुन 'यारो होइ ।

छूटनि पोये प्रात छिन रहे नौव बस भोइ ॥^१

कोई व्यभिचारिणी अपनी सखी ग्रथवा पड़ोसिन के निवट मंडी बात-चीत कर रही है। इतनी देर में जार बहा धाकर ठिठकने लगा है। उससे ठिठकन का अभिप्राय 'व्यभिचारिणी से यह जानने के लिये है कि वह किस समय मिलेगी। सहेट पहले से ही निश्चित है। फलत माधिका पड़ोसिन से उपयुक्त पत्तियाँ कहती है। इन पत्तियों से पड़ोसिन को यह बताती है कि उसे पति से एक मिनट की छुटकारा नही मिलता है। बस छुटकारा निरय प्रति के काय करन के लिए प्रात काल ही मिलता है। परन्तु नायक को यह समझा दिया कि मैं बस प्रात काल ही मिल सकती हूँ।

७ प्रस्ताव वशिष्ट्य से—कभी-कभी वक्ता ऐसा प्रसंग ग्रथवा प्रस्ताव शला दता है कि उससे विगेष व्यङ्गाय की प्रतीति होन लगती है। यथा—

घोर घटा ऊनई चहुँपा छिन ए' मैं बीबु छटा छबि छाह है ।

धोपति राइ कहा करिबी भरिबी करिके पुन चातक गाइ है ॥

कारो पिछौरो उतारिहहा अब धूनरी साल अनूप सुहाइ है ।

हो जो मुनी धरो चारिक मैं सखि भाबु तिहारो पिया घर छाह है ॥^२

कृष्णामिसारिका ने उपपति से मिलने के लिए पूरी तैयारी कर ली है। उसने पाली पिछौरी भी भोड़ ली है। इतन में ही सखी की उसके पति के आगमन का स्मरण आता है। वह उसी का स्मरण दिलाकर उसको उपपति के पास जाने से रोकना चाहती है। तू अपने पति से मिलने के लिए उचित शृङ्गार कर उपपति के समीप मत जा यह व्यङ्ग्य है। इस व्यङ्ग्य की प्रतीति प्रस्ताव की विगेषता के कारण ही होती है।

८ वेश वशिष्ट्य से—कभी-कभी 'व्यङ्गाय की प्रतीति देश-वर्णन के ज्ञान से भी हो जाती है। यथा :—

सासुरे को बली बाहिरो बाग बिलकति हो अखियाँ भरि आई ।

जानत हो मुजनी बियकी तिन कान में आइ तहीं समुसाई ।

बेखें बिना पहिले हो मली रति खेल की ठाहर को पछिताई ।

जात अहा हो तहाँ पुनि सुन्दर मंदिर सुने धनी अमरआई ॥^३

कोई 'व्यभिचारिणी जब समुराल को चलने लगी तो अपने सहेट-स्थल को देखकर उह छोड़ने का उसे दुख हुआ। अतएव सखी उसके दुख का कारण समझ गई और उसे आश्वासन

१ रस रहस्य, २।३७

२ काय-सरोज ३-६३

३ सुन्दर शृङ्गार का छंद समाप्रकाश ६।७२

देती हुई बोली कि समुद्रान में बहुत स सुने मंदिर और घनी अमराइया हैं। हमसे व्यग्य यह है कि जिस प्रकार तुम यहाँ देखटक बार से मिलती रहें वहा की उसी प्रकार मिलती रहोगी। चिन्ता मत करो। महाँ 'सूने मंदिर और घनी अमराई देश की विशेषता से व्यग्याय की प्रतीति होती है।

६ कास वशिष्ठसे—कभी कभी व्यग्यार्थ की प्रतीति बाल-वर्णन से भी होती है।

यथा—

कियो सब जग बाम बस जाते जिते अनेय ।

कुसुम सरहि सर धनुष कर अगहन गहन न देख ॥^१

यदि इसे मानिनी नायिका के प्रति सखी का वचन माना जाय तो यह व्यग्याय होगा कि आज तू भर कहने से नहा माननी पर तु अगहन के आते ही मान छोड़कर पति से मिलेगी। अगहन महीना तेरा मान तोड देगा। यह व्यग्याय अगहन महीने की विशेषता के कारण निकलता है।

१० चेष्टा वशिष्ठसे—अथ की 'यजकता के जिन्ने वाह्य साधन हैं उनमें चेष्टा भी एक है। जिस प्रकार 'व्यग्यार्थ प्रतीति में अथ तारो ॥ सहायता मिलती है उसी प्रकार चेष्टा से भी। चेष्टा की भाव व्यजकता के सम्बंध में भारत में विशेष विचार हुआ है। प्राचीन साहित्य शास्त्रियां न चेष्टा से भी भाव व्यक्तता स्वीकार की है। वस्तुतः चेष्टा का भाव-व्यजकता में विशेष हाथ रहता है। यथा—

हैं अखगन बराइव कों तितमो क्षित हो वृषभान को डारो ।

जय भिलाइ लई भुज भेलि सकोचि तक अथ बन बिसारो ॥

श्रीपति जू भनि नम नचाइ क तीख चलाइ कटाछ कटारो ।

सोस तै खनि लियो पट धूँघट न मुख बंद रहयो न उग्यारो ॥^२

नायिका ने उपपति के सम्मुख आन पर अपनी उपयुक्त अनेक चेष्टाओं से कामोपभोग की आकांक्षा व्यक्त की। चतुर नायक जो नायिका की इन चेष्टाओं का भाव समझता है अपने अंतरंग मित्र से कह रहा है कि जब बछड़े चराने के लिए नायिका के द्वार से निकला तो उसने अपनी विनोद चेष्टाओं से घर आने का संकेत किया। उसने अपनी दोनों जवाओं को फलाकर मिला दिया और उसन स्पष्टक नाम मालिषन का भाव प्रकट किया। तब तर उसने अपने धूँघट की खीचकर यह सलाह दी कि छिपकर मेरे पास आना। अचल नेत्रों के नचान का यह तात्पर्य है कि आन का समय संध्या होना चाहिए। उसने मुख को बंद कर यह संकेत किया कि मनुष्यों का कोलाहल बंद होने पर आना। ये व्यग्यार्थ नायिका की चेष्टाओं से मनुष्य की प्रतीति होने हैं।

व्यग्याय और उसके भेद—

यहाँ तक यजना के दोना भेद—शाब्दी और शार्पों का संप्रपंच उल्लेख हो चुका। यहाँ पर व्यग्याय का विचार भी आवश्यक है। व्यग्याय तीन प्रकार का माना जाता है—१ वस्तु-

१ बिहारी रत्नाकर, ४६५

२ वाय सरोज, ३ ६७।

रूप, २ अलंकार रूप और ३ रस भयवा भाव रूप । जहाँ वस्तु अर्थात् केवल अर्थ को व्यञ्जना होती है । वहाँ वस्तु व्यंग्य मानी जाती है । जहाँ अलंकार की व्यञ्जना होती है वहाँ अलंकार व्यंग्य स्वीकार किया जाता है, जहाँ रस भयवा भाव की व्यञ्जना होती है वहाँ रस भयवा भाव व्यंग्य स्वीकार किया जाता है । व्यंग्याय के अर्थ का उल्लेख पहले हो चुका है । यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि व्यंग्याय की प्रतीति सर्वदा मुख्याय अथवा वाच्याय के बाद ही होगी । वाच्याय ही लक्ष्याय और व्यंग्याय का आधार है । व्यंग्याय के ये तीनों रूप सदा व्यंग्य ही होते हैं, सो बात नहीं । इनमें से प्रथम दो भेद अर्थात् वस्तु-रूप और अलंकार रूप वाच्य भी हो सकते हैं और व्यंग्य भी । स्वाभावोक्ति में मालक आदि का वस्तु-वर्णन वाच्य रूप में हो सकता है ।^१ उपमादि अलंकारों में अलंकार भी वाच्य ही होते हैं । परन्तु रस भाव सदा व्यंग्य ही होने हैं । ये कभी और किसी स्थिति में वाच्य नहीं होते हैं । बात यह है कि रस और भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होते हैं और चित्त वृत्ति कभी भी वाच्य नहीं हो सकती है ।

शाब्दी व्यञ्जना और त्रिविध व्यंग्याय—

ऊपर व्यंग्यार्थ के तीन भेद किये गये हैं—१ वस्तु रूप, २ अलंकार रूप और ३ रस भाव रूप । इनमें से प्रथम दो अर्थात् वस्तु रूप और अलंकार रूप शाब्दी व्यञ्जना से भी ध्वनित होते हैं, परन्तु रस भाव रूप व्यंग्यार्थ शाब्दी व्यञ्जना से ध्वनित नहीं होता है । रस और भाव की तत्त्वमयकारी अभिव्यक्ति केवल अर्थात् व्यञ्जना से ही सम्भव है । यही कारण है कि ध्वन्यालोककार ने यमक और श्लेष जैसे वादालंकारों को रस-परिपाक में बाधक स्वीकार किया है, काव्य में जहाँ शृंगार रस का अङ्गी रूप में विद्यमान हो रहा है वहाँ यदि कवि प्रयत्नपूर्वक एक रूप अनुप्रास का निबन्धन करने लग जाय तो वह अनुप्रास रस का व्यञ्जक नहीं होता है । अनुप्रास में एकरूपता लाने का यत्न करने पर अनुप्रास ही मुख्य हो जाता है और रस भाव परिपाक गौण ।^२

जिय कबहुँ न जाँचिय जाँचिय जो जिय जाँचिय जानकी जानहि रे ।

जेहि जाँचत जाँचत जाँचत जाँचत जो जाँचत जोर जहाँतहि रे ॥

इन पक्तियों में अनुप्रास की एकरूपता का निबन्धन है यहाँ अनुप्रास ही मुख्य हो गया है । कवि प्रतिभावान् है, उसकी वाणी तत्त्वमयकारी रस परिपाक करने में भी समर्थ है और यमक आदि वादालंकारों का निर्वहण करने में सक्षम । परन्तु शृङ्गार रस में और विशेषकर विप्रलम्भ शृङ्गार में कवि यदि अपनी उपयुक्त प्रतिभा का प्रयोग करता है—रसों में शृङ्गार का यहाँ पर उपलक्षण यमक प्रयोग है, और यमक और श्लेष आदि का निबन्धन करता है तो यह उसका प्रमाद है ।^३ तात्पर्य यह है कि शब्दाढ्यवर रस-परिपाक में बाधक होता है । शाब्दी व्यञ्जना के लक्षणमूला

१ स्वभावोक्ति रसो चारु यथा वदवस्तु वर्णनम्, —माहित्य-वर्णन ।

२ शृंगारस्याग्नौ यत्नादेक रूपानुबन्धवान् ।

सर्वेदेव प्रमेदेषु नानुप्रास प्रकाशक ॥—ध्व० सो०, २ १४ ।

३ ध्व-यात्मभूते शृंगारे यमकादि निबन्धनम् ।

प्रज्ञावति प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषतः ॥

भेद म वस्तु रूप की हो व्यञ्जना होती है। इसका विीप उल्लेख "अगुड" नामक गुणीभूत-व्यग्य के अद्वय पर आगे किया जायगा। यही कारण है कि प्रागुनिक् हिंदो वाच्य मे जहाँ लाक्षणिक प्रयोग सानुबध चलते हैं, रस-परिपाक नहीं हो पाता है। रस-परिपाक के अभाव में ही कविता की ओर से जनता की रुचि हन्ती आरही है। जनता की रुचि जगाने के लिये सशक्त प्रतिभावान् कवियों को लाक्षणिकता के मोह को छोड़ना होगा। अलंकार रूप की व्यञ्जना अभिघामूला शाय्दी में होती है। इसमें वस्तु-व्यञ्जना नहीं होती है।

आर्यों व्यञ्जना और त्रिविध व्यग्य—

आर्यों व्यञ्जना मे त्रिविध व्यग्यार्थ का समावेश रहता है। जसा ऊपर दिसाया जा चुका है रस भाव की व्यञ्जना तो आर्यों व्यञ्जना द्वारा ही हो पाती है।

वस्तु व्यञ्जना और आह्लाव—

वस्तु-व्यञ्जना अविवक्षितवाच्य के दोनों भेदो मे होती है और विवक्षिताय पर वाच्य म भी होती है। वस्तु-व्यञ्जना मे अमत्कार तो भी रहता है परन्तु अलंकार-व्यञ्जना और रस भाव-व्यञ्जना की अपेक्षा कम। वस्तु-व्यञ्जना मे भाव-सस्पन्न भी रहता है। परन्तु बहुत कम। वस्तु-व्यञ्जना में सनिविष्ट भाव उच्च काटि क सहृदय को भी तमय नहीं कर सकता है। अप्रव-व्यञ्जना मे सहृदय का बोध-सीमा का विस्तार होना है और यह विस्तार ही उसे आह्लाव प्रदान करता है। यह आह्लाव भावानुभूति से भिन्न होता है। वस्तु व्यञ्जना के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं —

वस्तु व्यञ्जना —

१ यह समयो यह न किरि कहै बन समुझाइ।

निज हितु मन में समुझि क जोति परन के शाइ ॥^१

यहा अर्थांतर सन्निमित्त अविवक्षित वाच्य का उदाहरण है। दोहे के दूसरे तीसरे चरण में जब कथनोय कह दिया गया तो 'कहे बन समुझाइ' कहना व्यर्थ है। परन्तु इससे उपदेश-वस्तु की व्यञ्जना होती है।

२ कीही भलाई भली हमसों, तु कहा कहिये जग में जस लीजो।

जाहिर है घर बाहिर रीति प्रतीति यहै पर स्वारथ छोड़ो ॥

काज सुधारत ही सबको निशि बासर ऐसे सवा सुख कीजो।

हैं जगदीस सौ भागो असोस तु कोटि बरी सकसों तुम जोजों ॥^२

यह अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य अविवक्षित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है। यह किसी अपवृत्त की अपकारी के प्रति उक्ति है। इससे धार निद्रा और सापराधत्व वस्तु व्यग्य है। इसमे क्रोध के मुक्लाहित अथवा स्त्रीक रूप का सस्पन्न भी है।

३ नव जलधर सम ऊनये कूरम राम कुमार।

सखि भहि मङ्गल में कियो कचन को आसार ॥^३

१ रस रहस्य, ३।४

२ रसिक रसाल २।२४

३ रस रहस्य, ३।१०४

यह विवक्षितवाच्य ध्वनि में अलंकार से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण है। आश्रयदाता महाराज रामसिंह की दान प्रशंसा में आश्रित की उक्ति है। उपमा अलंकार से महाराज की दानमहिमा वस्तु व्यंग्य है।

४ मुनि-मुनि प्रीतम भालसी, धूत सूम धनवत।

नवल बाल हिय में हरय बाढ़त जात अनत ॥^१

यह अथ शक्तयुत्य स्वत सम्भवी वस्तु से वस्तु के व्यंग्य का उदाहरण है। भालसी होने से सदा घर में रहेगा, सूम और धनवत कहने से दरिद्रता का भय नहीं है। एवं धूत होने से कामी होगा आदि वस्तु व्यंग्य हैं।

अलंकार व्यञ्जना—

१ जाकी कर सख दिसन में सौम लहे द्विजराज।

रहे विष्णुपद में सुरभि सुबहादुर महाराज ॥^२

यह शब्द शक्तयुत्य अलंकार ध्वनि का उदाहरण है। यह अभिधानाशादी का प्रसंग है। कवि आश्रयदाता महाराज बहादुर सिंह जी की प्रशंसा कर रहा है। वही प्राकरणिक अर्थ है। वर, द्विजराज, विष्णु आदि द्वयवच शब्दों ने प्रयोग से सूय का अर्थ भी निवृत्त है। महाराज बहादुरसिंह और सूय में उपमेयोपमान भाव होने से उपमा-अलंकार व्यंग्य है।

२ येही चिरजीवी अमर निघरक फिरी कहाय।

छिन बिछुर जाकी नहीं पावत आइ सिराय ॥^३

वर्षा में परदेश गमनमना पति के प्रति प्रियतमा की उक्ति है। जो प्रियतम का क्षण भर भी वियोग सहन कर सकते हैं निश्चय वे अमर हैं। मैं तो आपका क्षण का वियोग भी सहन न कर सकूंगी। मेरा प्रेम सर्वोत्कृष्ट है। यह व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है। यह स्वत सम्भवी वस्तु से अलंकार की व्यंग्यता का उदाहरण है।

३ सीय हवक्ष लता सी मही तल ती उसही दुलही रति रानी।

काम महीरह सो बर राम बिलोकत सो विष काम कहानो ॥

एक में एक पर छहरी मुख लावनि की सहरी अधिक्कानो।

आपुस में उछल पछलें ज्यों नदी नद सगम को बड़ि पानो ॥^४

यह किसी अंतरंग सखी की सखी के प्रति उक्ति है। 'सीय लतासी मही-तल और 'बर राम महीरह सो में उपमा अलंकार स्वत सम्भवी है। इससे दृष्टांत अलंकार व्यंग्य है। यह स्वत सम्भवी अलंकार से अलंकार की व्यंग्यता का उदाहरण है।

१ काव्य निगम, ६।३३

२ समा प्रकाश, ७।१८

३ बिहारी रत्नाकर ३६३

४ फले-प्रकाश, २।७३

रस-व्यजना—

मो ध तो न कछू हवै आई ।
 और नियाहि भली विधि भायप चल्पो लखन सौ भाई ॥
 पुर, पितु पातु, सकल सुख परिहरि जेहि बन विपत्ति बटाई ।
 ता सग हौं मुर लोक लोक तजि सख्यो न प्रान पठाई ॥
 जानत हों या उर कठोर तै कुलिस कठिनता पाई ।
 सुमिरि सनेह सुमित्रा सुत को दरजि दरार न जाई ॥
 तात मरन, तिय हरन, मोघ बध भुज दाहिनी गवाई ।
 तुलसी में सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई ॥^१

इस छन्द में करुण रस का परिपाक है । रस ध्वनि की आत्मा है । रस में वस्तु और प्रत्यक्ष की अपेक्षा अधिक तन्मयकारिता होती है । जिस कवि की वाणी से रस रूप आनंद ही स्वतः ही वर्ण्य होती है वही महाकवि है । यह रसानुभूति केवल व्यजना शक्ति से ही सम्भव है । इसकी महत्ता के कारण ही बिद्वनाय ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था ।

ध्वनि काव्य का लक्षण—

जिस काव्य में चमत्कारयुक्त व्यंग्याय प्रधानता प्राप्त कर लेता है उस ध्वनि-काव्य माना जाता है । ध्वनि-काव्य का लक्षण ध्वनिवार ने इन शब्दों में किया है “जहाँ पर शब्द प्रयत्न प्रयत्न दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ का बोझ बनाकर ‘यंग्याय’ की अभिव्यक्ति करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् ध्वनि नाम देते हैं । ध्वनि काव्य में स्थित ‘यंग्याय’ काव्य के वाक्याय की अपेक्षा प्रधान होता है और उसमें अंगना वाक्य की भाँति एक विशेष चमत्कार विद्यमान रहता है । ध्वनि का य के व्यंग्यार्थ में ये दो मुख्य विशेषताएँ होती हैं ।

ध्वनि काव्य में भेद—

ध्वनिकाव्य के दो मुख्य भेद हैं—(१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षिताय-पर-वाच्य ध्वनि । इनमें से प्रथम में लक्षणांशुला शाब्दी व्यजना और लक्ष्य सम्भवा आर्यो व्यजना का आधार रहता है और दूसरे भेद में अभिधामूला शाब्दी व्यजना, वाच्य-सम्भवा आर्यो व्यजना और ‘यंग्य-सम्भवा आर्यो व्यजना का आधार होता है । लक्षणांशुला और लक्ष्य सम्भवा व्यजना में लक्षणा शक्ति की स्थिति होने से मुख्य अर्थ में कवि को विवक्षा (कहने की इच्छा) नहीं होती है । इसीलिए उसका नाम अविवक्षित वाच्य रखा गया है । यह पहले बताया जा चुका है कि ध्वनि की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किये गये हैं (१) अजहल्लक्षणा और (२) जहल्लक्षणा । इनमें प्रथम लक्षणा को उपादान लक्षणा और द्वितीय को लक्षण-लक्षणा भी कहते हैं । लक्षणा के इसी दोनो भेदों का आधार मानकर अविवक्षितवाच्य के भेद किये गये हैं—(१) अर्थांतर सन्नमित और (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य । इनमें अर्थांतर सन्नमित वाच्य का सम्बन्ध उपादान लक्षणा से है और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का सम्बन्ध लक्षण-लक्षणा से ।

लक्षणा के पदगत और वाक्यगत भेद—

कतिपय आचार्य अभिधा की भाँति लक्षणा को भी पदों से सम्बंधित स्वीकार करते हैं

१ गीतावली लकावाड, ६

२ ध्वनि, १।१३

और कुछ पद और वाच्य दोनों से सम्बन्धित । लक्षणा को पद से सम्बन्धित स्वीकार करने वाले आचार्यों में मम्मट और उनके टीकाकार गोविन्द ठाकुर का नाम उल्लेखनीय है । उसे पद और वाक्य से सम्बन्धित स्वीकार करने वालों में विश्वनाथ ही प्रमुख हैं । उन्होंने स्पष्ट लिखा है, 'यं समी लक्षणायां पदगतं और वाक्यगत होने के कारण पुनः दो-दो प्रकार का होती है ।' वाक्यगत लक्षणा का निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है —

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता भवता प्रथिता परम् ।

विदधती दृशमेव सदा सखे सुखित भास्व तत शरदा शतम् ॥

'भापने हमारे साथ बड़ा उपकार किया है हम उसका उत्सख कहाँ तक करें । भापने उच्चकोटि की सज्जनता दिखलाई । हूँ मित्र आप ऐसा ही करते रहे और सखी वर्यो तक सुख पवक रहें ।

ऊपर उद्धृत छंद में एक से अधिक लक्षक पद हैं यथा उपकृत सुजनता, सुखित आदि । इसलिये लक्षणा वाक्यगत मानी जानी चाहिए । यह तो विश्वनाथ का अभिप्राय है और तात्पर्य की भाँति उसका सम्बन्ध वाक्य से न होकर केवल पद भयवा पदों से ही है यह अभिप्राय लक्षणा को पदगत मानने वालों का है । इस पर अपना नियम देते हुये डा० भोलाशंकर ने लिखा है, हमें विश्वनाथ का मत नहीं जचता । वस्तुतः लक्षणा केवल पदगत होती है । वाक्यगत जैसा भेद मानना समीचीन नहीं ।^१ परन्तु यह प्रश्न इस प्रकार के नियम से सुलभता दिखाई नहीं पड़ता है । यह पीछे किया जा चुका है कि उपादान लक्षणा अर्थान्तर सन्नमितवाच्य ध्वनि और लक्षणा लक्षणा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का मूल है । ये दोनों अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भेद हैं । ध्वनिकार ने अविवक्षितवाच्य ध्वनि की पद और वाक्य प्रकाशता स्वीकार की है ।^२ यदि लक्षणा केवल पदगत होती है तो उस पर बाधित अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी पदगत ही हानी चाहिए, वह वाक्यगत कस मानी जा सकती है । यहाँ भी यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि की पदवाक्य प्रकाशता के सम्बन्ध में किसी आचार्य ने शका नहीं की है । विश्वनाथ ने कदाचित् इसी आधार को लेकर लक्षणा को पदगत और वाक्यगत स्वीकार किया है । अविवक्षित वाच्य ध्वनि के पदगत और वाक्यगत भेद स्वीकार करने से ध्वनिकार और लोचनकार की भी यही सम्मति जान पड़ती है । इसलिये लक्षणा के विश्वनाथ द्वारा किये गये पदगत और वाक्यगत भेद समीचीन ही हैं ।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के चार भेद हुए (१) पदगत अर्थान्तर सन्नमित वाच्य, (२) वाक्यगत अर्थान्तर सन्नमितवाक्य, (३) पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और (४) वाक्यगत वाच्य ।

१ पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येक ता अपि द्विधा ।

—सा० ८०, २-१२

२ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १३२

३ अविवक्षितवाक्यस्य पदवाक्य प्रकाशता । ध्व०, ३-१

४ ध्व, २-२

ध्वनि-काव्य का दूसरा भेद विवक्षिता यपरवाच्य ध्वनि माना गया है। इसके मुख्य दो भेद हैं (१) असलक्ष्यक्रम व्यंग्य और (२) सलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। असलक्ष्यक्रम व्यंग्य का विवेचन चतुष्यध्याय में किया जायगा। व्यञ्जक की दृष्टि से इसके अनन्त भेद हो सकते हैं परन्तु प्रसिद्ध गुप्त ने इसके पाँच भाग किये थे (१) वृत्तगत, (२) पदगत, (३) वाक्यगत, (४) सघटनागत, और (५) प्रबन्धगत परन्तु मम्मट और विश्वनाथ ने इसके छ भेद किये हैं (१) वर्णगत, (२) पदगत, (३) पदाशगत, (४) वाक्यगत, (५) रचनागत और (६) प्रबन्धगत।^१ पदाशगत में वृत्त तद्धित प्रत्ययों की व्यञ्जकता सम्मिलित करके छे भेद माने हैं। इस भेद प्रभेद कल्पना में मम्मट की भावना को प्रामाणिक माना जा सकता है। इसके पश्चात् सलक्ष्यक्रम व्यंग्य के ध्वनिकार ने दो प्रमुख भेद किये हैं, (१) शब्द-शक्तिमूल और (२) अर्थशक्तिमूल। लेकिन वृत्तिभाग में उन्होंने उभयशक्तिमूल का भी उदाहरण दिया है। इसी के आधार पर शब्द के ध्वनिवादी आचार्यों ने सलक्ष्यक्रम व्यंग्य के दो स्थान पर तीन भेद कर दिये हैं, यद्यपि लोचनकार दो ही भेद स्वीकार करते हैं। इस विभाजन प्रक्रिया में मम्मट का भाग ही युक्तिपुक्त है। रीतिकालीन आचार्यों ने सलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के तीन भेद ही माने हैं। इनमें से शब्द शक्तिमूल ध्वनि के ध्वनिकार ने दो भेद किये हैं। (१) पदगत शब्द शक्तिमूल असकार ध्वनि और (२) वाक्यगत शब्दशक्ति मूल प्रत्यकार ध्वनि। मम्मट इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्ति मूल के वस्तु ध्वनि के आधार पर दो भेद किये हैं। परन्तु शब्दशक्ति-मूल वस्तु ध्वनि के भेद मानना उचित प्रतीत नहीं होता है। इसका विवेचन आगे इसी अध्याय में किया जायगा।

शब्दशक्तिमूल ध्वनि का आधार अभिधाभूता व्यञ्जना है। इसमें ऐसे अनेकायक शब्दों का प्रयोग होता है जो बदले नहीं जा सकते हैं। श्लेष में भी ऐसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है जो परिवर्तित नहीं हो सकते हैं। इसलिए शब्द-शक्तिमूल ध्वनि और श्लेष के क्षेत्रों का निश्चय करना आवश्यक है।

श्लेष—श्लेष अलकार वही माना जाता है जहाँ दोनो अर्थ प्रस्तुत होते हैं अर्थात् प्रकरण-योजना में दोनों की भावना रहती है। य दोनो अर्थ भिन्न भिन्न और समान कोटि के होते हैं जिनमें सम्योग इत्यादि क द्वारा अभिधा का नियन्त्रण होने के पश्चात् द्वितीय अभिधा से अर्थ अर्थ की प्रतीति होती है। भिन्न अर्थ मान लेने से भिन्न शब्द भी मानने पड़े थे क्योंकि जहाँ अर्थ का भेद होता है, 'अर्थ भेदन शब्द भेद' यह नियम है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अर्थ के लिए एक शब्द की आवश्यकता है 'प्रत्येक शब्द निवेद्य'। 'इस प्रकार श्लेष में दो भिन्न भिन्न अर्थ होंगे वहाँ दो भिन्न शब्दों की कल्पना करनी पड़ेगी। यथा

रक्तस्य नवपल्लवरहसि द्वाभ्य प्रियाया गुण
स्वामायांति गिलीमुखा ह्मरघनुमुक्ता सखे मामपि ।
जान्तापादता हतिस्तत्त्व मुदे तद्वन्ममाप्यावयो ।
सख तुल्यमङ्गोक केवलमह धात्रा सङ्गोक कृत ।

१ पदाश वृत्त रचना प्रबन्धेष्वस्फुट ध्रम । सा० द०, ४—११

२ ध्व० सो०, २—२१

दो अथ दो अभिधायक—

इस छन्द में तुम (प्रशोक) को शिलीमुख भ्रमर आते हैं और मुझे स्मर घनुष से छूटे शिलीमुख बाण आते हैं। इस प्रकार दो शिलीमुख शब्द मानने पड़ेगे जिनमें से एक शिलीमुख का अभिधा व्यापार द्वारा भ्रमर अथ होगा और दूसरे शिलीमुख शब्द का दूसरे अभिधा व्यापार द्वारा बाण अर्थ। दोनों प्रस्तुत अथ एक ही अभिधा द्वारा प्रकट न हो सकेंगे, उन दोनों के बोध के लिये दो अभिधायक स्वीकार करने पड़ेंगे। अभिनवगुप्त ने श्लेष व प्रसंग में दो ही अभिधायक स्वीकार की हैं। उनका मत है कि जहाँ द्वितीय अभिधा व्यापार की सत्ता की बनाने वाला प्रमाण है जैसे 'तस्या विनापि हारेण' इत्यादि श्लोक में।^१ यह श्लोक श्लेष का उदाहरण है। यहाँ दो अभिधायक होंगे। भाग्य चलकर उन्होंने पुनः दो अभिधावाली मायता दुहराई है। श्लेष से भिन्न ध्वनिज्ञान का उल्लेख करते हुये उन्होंने तत्सम्बन्धी चार मतों का उल्लेख किया है। चौथे मत के प्रारम्भिक शब्द ये हैं, द्वितीय पक्ष—अप्रस्तुत पक्ष की व्याख्या में जो अर्थ सामर्थ्य है उससे द्वितीय अभिधा ही पुनरुज्जीवित हो जाती है।^२

श्लेष भ्रमकार के इस प्रसंग को एक दूसरा उदाहरण लेकर अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। उदाहरण है—

रावण सिर सरोज बनचारी। रघुवीर शिलीमुख धारी,

रामायण की इस मर्दाली में गोस्वामी जी ने द्वययक शब्द शिलीमुख का प्रयोग किया है। शिलीमुख के दो अर्थ होने हैं (१) बाण और (२) भ्रमर। यह राम रावण युद्ध के प्रसंग की मर्दाली है। रावण के दश सिरों में राम ने बाण समूह मारे। तुलसी ने रावण के सिर समूह पर सरोजवन का आरोप करके एक नवीन प्रसंग की योजना की जिससे 'शिलीमुख' के दोनों अर्थ सार्थक हो गये। काव्यसाहित्यियों ने इस प्रसंग के दोनों अर्थों को प्राकरणिक स्वीकार किया है और 'शिलीमुख' पद के प्रयोग के कारण 'श्लेष' भ्रमकार को वाच्य। श्लेष भ्रमकार को वाच्य कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ द्वितीय अर्थ का बोध भी अभिधा से ही होता है—योजना से नहीं। इस विषय में डा० मोलानादकर 'यास ने लिखा है, 'जहाँ दोनों ही अर्थ प्राकरणिक होंगे, वहाँ अभिधा मूला धात्री व्यञ्जना नहीं मानी जायगी। वहाँ श्लेष से युक्त कोई न कोई साम्यमूलक भ्रमकार ही होगा और वह भी वाच्य रूप में।^३ उपर्युक्त मत में तीन तत्व हैं। (१) जहाँ दोनों प्राकरणिक अर्थ होंगे वहाँ अभिधामूला शब्दी 'योजना नहीं होगी (२) वहाँ श्लेष से युक्त कोई न कोई साम्यमूलक भ्रमकार ही होगा और (३) वह भी वाच्य रूप में। वाच्य रूप में भ्रमकार का बोध होगा' कहने से विद्वान् डाक्टर का यहो अभिप्राय है कि वहाँ दोनों ही अर्थों का बोध अभिधा द्वारा ही होगा। इसके अतिरिक्त भ्रमकार भी वाच्य होगा अर्थात् उसके वाचकों का प्रयोग भी रहेगा। शब्द-बुद्धिक्रमणा विरम्य 'यापारामाव का ध्यान रखते हुये श्लेष के दोनों प्राकरणिक अर्थों का

१ यत्र वा प्रत्युत द्वितीयाभिधा 'यापार' सदभावादेक प्रमाणमस्ति यथा 'तस्या विनापि हारेण' इत्यादौ। लोचन, पृ० ११६

२ इतरेषु—द्वितीयपक्ष यापाराने यदयसामर्थ्य तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिसूयते ततश्च द्वितीयार्थो मिधीयत एव न ध्वयते। लोचन पृ० १२१

३ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १६२

बोधक दो अभिधायों स्वीकार करने पड़ेगी। एक अभिधा एक प्राकरणिक अर्थ का बोध करावेगी और दूसरी दूसरे प्राकरणिक अर्थ का। इही दोनों अर्थों के वाच्य होने के कारण ही 'कोई न कोई साम्यमूलक अलंकार वाच्य होगा' आक्षिप्त नहीं। इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि श्लेष के साथ सबत्र अलंकार का होना आवश्यक नहीं है। अलंकार सभावना की स्थिति में उसका वाच्य होना तो अनिवार्य है। परन्तु उसका साम्यमूलक होना अनिवार्य नहीं है। श्लेष के साथ अलंकार नहीं भी हो सकता है।

यथा—

येन स्वस्तमनोभवेन धतिजित्काय पुण्डरीको कृतो ।
यश्चोवृत्त भुजगहारवलयो गगा च योधारयत् ।
यस्याहुः क्षितिमचिद्रोह इति स्तुत्य च भागवतम् ।
पादास्त स्वयमचक्षयकरत्वां सवदोमाधय ।

भगवान् विष्णु परक अर्थ—भगवान् जिस भगवान् ने शकटाक्षर को मारा, बलि अथवा बलवान् रामसो की जीतने वाला, गोवधन तथा पाताल गत भूमि को धारण करने वाला और जो चक्र को बलय के रूप में धारण करने वाला है, जिसका नाम देवता लोग चन्द्रमा को दमन करने वाले राहु के सिर को नष्ट करने वाला बतलाते हैं, वे यादवों का आवास बनाने वाले, सब कुछ प्रदान करने वाले लक्ष्मीपति तुम्हारी रक्षा करें।

भगवान् शंकर परक अर्थ—वामदेव की जीतने वाले जिन भगवान् शंकर ने बलि की जीतने वाले विष्णु के शरीर को पुराने समय में अस्थ बना लिया था, उद्धृत सर्प ही जिसके हार एवं कण हैं जिसने गंगा की धारण किया है, जिसने सिर को चन्द्रमा से युक्त करते हैं, देवता जिसका 'हृ' यह स्तुत्य नाम बतलाते हैं वे अश्वक का नाश करने वाले उमाकांत भगवान् शंकर तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ पर द्वितीय अर्थ वस्तु मात्र ही है अलंकार नहीं। यह छंद श्लेष का ही उदाहरण है। साथ ही यह भी सबत्र आवश्यक नहीं है कि श्लेष के साथ साम्यमूलक अलंकार ही हो। आधाय भागवत का प्रमाण देने लिये अभिनव गुप्त ने सहोक्ति, हेतु और उपमा अलंकारों का प्रयुक्तता के साथ श्लेष का अनुग्राहकत्व स्वीकार किया है।^१ सहोक्ति और हेतु साम्य मूलक अलंकार ही हो जसा कि उपयुक्त विद्वान् ने स्वीकार किया है।

श्लेष दूसरे अलंकारों के साथ सम महत्व अथवा समान चमत्कार युक्त होकर भी रह सकता है। यथा—'रत्नत्वं इत्यादि छन्द मे विरही राम की अशोक के प्रति उक्ति है, हे ! अशोक तुम नव पल्लव से और मैं प्रियतमा के श्लाघ्य गुणों से रणा हुआ हूँ। हे मित्र ! तुम पर सिली मुख भ्रमर प्रा रहे हैं और कामदेव के धनुष से छूटे हुए सिलीमुख बाण मुझ पर भी। प्रिया का पात्र प्रहार तुम्हें आनंद देता है और मुझे भी। हे ! अशोक हम दोनों की सब बातें समान हैं, विधाता ने केवल मुझे सगोत्र बनाया है।

१ अत्र वस्तुमात्र द्वितीय प्रतीत नालंकार इति श्लेषस्यैव विषय

—सोचन, पृ० ११६

२ सहोक्त्युपमा हेत्वलंकाराणां हि भूमसा श्लेषानुग्राहकत्वम्।

—सोचन, पृ० ११०

यहाँ पर 'रक्त', 'शिलीमुख' आदि में श्लेष झलकार है और अन्तिम पंक्ति में व्यतिरेक झलकार है। दोनों झलकार सम महत्व के हैं। यहाँ पर श्लेष व्यतिरेक की सृष्टि है।

दो अभिधाओं के अन्य स्वन—

श्लेष झलकार के अतिरिक्त दो अभिधार्य प्रश्नोत्तर झलकार में भी रहती हैं। कभी-कभी मनोरंजन के लिये विद्वद्गोष्ठियों में दो प्रश्नों का शब्दच्छल से एक साथ उत्तर देने की चेष्टा होती है। जैसे सफेद कुत्ते की दौड़ते देखकर दो प्रश्न किये गये हैं—(१) कौन दौड़ रहा है? (२) दौड़ने वाले का रंग क्या है? दूसरे व्यक्ति ने दोनों प्रश्नों का एक उत्तर 'श्वेतो धावित' कहकर दे दिया। दोनों उत्तरों को स्पष्ट करने के लिये दो प्रकार से ग्रथ किया जायगा।
स्वा=कुत्ता, इतो=इधर से, धावित=दौड़ रहा है। श्वेत इतो धावित=सफेद दौड़ रहा है।
श्वेतो से भग्न-श्लेष की सहायता से दो शब्द मानने पड़े और दोनों शब्दों का दो अभिधाओं से झलज झलज ग्रथ हुआ। इसी प्रकार बाधित ग्रथ के प्रसंग में भी असम्य ग्रथ की प्रतीति भी अभिधा से माननी पड़ेगी। बहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में कभी कभी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग हो जाता है जिनके, भिन्न क्रमपाठ से ग्रथवा दो शब्दों के सभी पक्षों के सहपाठ से एक ऐसे ग्रथ की प्रतीति हो जाती है जिसे असम्य ग्रथ कहा जाता है। पंडित राज ने इसे बाधित स्वीकार किया है। यथा—

- १ सरलपन ही था उसका मन। (पन्त)
- २ नर ही न निराश करो मन को। (भयिनीशरण गुप्त)
- ३ रश्चि कुह। (काव्य प्रकाश)
- ४ महामीछु रासी सरा पान पाँव घोव। (नेत्रव)

प्रथम उद्धरण में सरलपन और ही को साथ साथ पढ़ने से सरल पनही पाठ भी हो जाता है और उस समय पनही बूते के बाधित ग्रथ की प्रतीति होती है। द्वितीय उद्धरण में 'नर' और 'ही' को साथ पढ़ने में 'न रहो' का भी पाठ हो जाता है और उससे एक भ्रमागतिक ग्रथ की प्रतीति होती है जो सवया अवाधित है। तृतीय उद्धरण में दोनों पदों में रश्चि और कुह के सहपाठ से दोनों पदों के चि और कु समीपस्थ अक्षरों के सहपाठ से तथा चौथे उद्धरण में भी एक अश्लील अवाधित ग्रथ का बोध होता है। यह ग्रथ बाधित इसलिये कहा गया है क्योंकि यह ग्रथ न तो कवि की अभिप्रेत है, न जानकर ही उसने इस ग्रथ के प्रत्यायक शब्दों का प्रयोग किया है एवं न यह ग्रथ प्रकरण संगत ही है। इस अवाधित ग्रथ की प्रतीति अभिधा से होती है अथवा व्यञ्जना से।^१ इसका सीधा और सरल उत्तर यही है कि इस ग्रथ की प्रतीति अभिधा से ही होती है, क्योंकि 'रश्चि कुह' में 'चि कु' में अश्लीलाश्रय का संकेत है। यह कश्मीरी भाषा का योनिवाचक शब्द है। जिस व्यक्ति को इस अश्लील संकेतिक ग्रथ का पूरा ज्ञान होगा उसी को इसकी प्रतीति होगी अन्य को नहीं। यञ्जना से सहृदय को सवया असंकेतिक ग्रथ की प्रतीति होती है। पंडितराज ने भी ऐसे स्थलों में अभिधा शक्ति से ही बोध स्वीकार किया है।

श्लेष के दोनों अर्थों की प्रतीति तो दो अभिधाओं से होती है, इसका निणय हो चुका। शब्द-शक्ति मूल ध्वनि के अप्राकरणिक ग्रथ की प्रतीति अभिधा से होती है अथवा यञ्जना से, इस

वात का निगम करना है। शब्द-शक्ति-मूल सलक्ष्यक्रम व्यंज्य का आचार अभिधामून। शब्दों व्यजना है। श्लेष की प्रसंग योजना में तो दोनों प्रार्थों की आकांक्षा रहती है परन्तु शब्द शक्तिमूला ध्वनि की प्रसंगयोजना के अनुसार केवल एक प्रार्थ ही प्रकरण-संगत रहता है। लेकिन अनेकाक्षक शब्दों के प्रयोग के कारण द्वितीय प्रार्थ की प्रतिभा भी होती है और यही द्वितीय प्रार्थ कवि प्रथमा कविनि बद्ध वक्ता की दृष्टि से मुख्य और रमणीय होता है। इसे प्रकरण-योजना में अनाकांक्षा होने के कारण अप्राकरणिक नाम दिया जाता है। इसी प्रार्थ में कवि की निवृत्ता होती है।

महिम भट्ट और अप्राकरणिक प्रार्थ की अस्वीकृति —

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रकरण संगत प्रार्थ प्राकरणिक और प्रकरण बाह्य प्रार्थ अप्राकरणिक माना जायगा। परन्तु यह कैसे स्वीकार किया जाय कि उस अप्राकरणिक प्रार्थ की प्रतीति होती ही है। महिम भट्ट ने अप्राकरणिक प्रार्थ को अस्वीकार करके उसे वाच्यवाचन-दोष मान लिया है। वाच्यवाचन दोष वहाँ माना जाता है जहाँ किसी वचनीय वात को न कहा जाय प्रार्थ कवि द्वययक शब्दों का प्रयोग करके भी प्रकरण में ऐसी योजना न करे कि द्रष्टव्य शब्दों के दोनों प्रार्थ सार्थक और प्राकरणिक हो जाय। इससे आचार्य शब्द शक्ति-मूल ध्वनि के प्रयोग का निषेध करते हैं। इसको उन्होंने इन शब्दों में स्पष्ट किया है। 'श्लेष का प्रयोग वहीं होना चाहिये जहाँ अर्थभि-यक्ति के लिये दोनों स्थानों पर कोई निबन्धन किया गया हो अथवा श्लेष के प्रयोग में कवि का उद्यम व्यर्थ है। श्लेष का वह प्रयोग कवि को कष्टदायक ही हो सकता है जहाँ द्वययक शब्दों का प्रयोग होने पर भी प्रार्थ की अभि-यक्ति के लिए प्रकरण में किसी हेतु का निबन्ध नहीं है।' आचार्य के अन्तिम वाक्य में शब्द शक्ति-मूल ध्वनि का संकेत है। साहित्य-वर्णन में भी एक स्थान पर 'शुशीलपित विग्रहो' आदि उदाहरण देकर महिम भट्ट द्वारा अप्राकरणिक शिव-परक प्रार्थ के निषेध की बात कही गई है। उन्होंने जिन पद्या के अप्राकरणिक प्रार्थ का निषेध किया है उनमें से एक छंद शिशुपाल वध महाकाव्य में 'सर्वतः पवत मा वर्णन है' २ इस छंद में ध्वनि पूर्ववर्ती आचार्य वल्लभ देव, ने श्लेष स्वीकार किया है और ध्वनितरवर्ती टीकाकार मल्लिनाथ ने अभिधामूला शब्दों व्यजना, ३ अर्थात् शब्दशक्तिमूल ध्वनि। इस पद्य का उद्धरण देकर वे कहते हैं, यहाँ 'गिरीश पद की अर्थात् के किसी हेतु का प्रकरण में निबन्धन नहीं है, इसलिये वाच्यवाचन नामक दोष है। एक बार प्रयुक्त गिरीश शब्द ही 'स्वेतो धावति की भाँति बिना प्रकरण की

१ उभयप्राप्य निव्यक्तय वाच्य किञ्चिन्नबन्धनम् ।

अथवा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेष व-धोद्यम इवे ।

तस्मादर्थान्तर व्यतिरेको कस्मिन्च नास्ति ।

य श्लेषबन्ध निबन्ध कलशायक कवरसौ ।—व्यक्ति-विवेक, २ ८४ ८६

२ आच्छादितायत दिग्भ्रमर मुञ्चकर्मामाक्रम्य सस्थितमुद्ध विनाश शृगम ।

मूर्ध्निस्सलसल हिनदीर्घपित कीटिमे नमु द्रौढ्यको मुविन विस्मये गिरीशम् ।

—शिशुपालवध, ४ १६ व्यक्ति-विवेक, पृ० ३४५

३ तस्मात्प्राकरणिकार्थमात्रपयवसितामिधाव्यापारेणानि

शब्देनार्थान्तर धौदध्वनि । मल्लिनाथ सवक्ता टीका, धृति, पृ० १४६

यहाँ 'भद्रात्मनो' वाले उदाहरण में जा दूसरे हाथी अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है यह व्यञ्जना नाम की चौथी वृत्ति से ही होती है। कारण अभिधा शक्ति प्राकरणिक अर्थ का बोध कराके विरत हो जाती है, मुख्यतयावाद इत्यादि हेतुभा के अभाव में लक्षणा का यहाँ अवकाश नहीं है, तात्पर्य-शक्ति अभिहित और लक्षित अर्थों में समग्रमात्र का बोध कराती है इसलिये इसका भी यहाँ अवसर नहीं है। इस प्रसंग में यदि कोई यह प्रश्न करे कि 'अर्थ भेद के कारण शब्दभेद स्वीकार कर लेना चाहिये, नियम के कारण यहाँ पर दो शब्दों की कल्पना उसी भाँति कर लेनी चाहिये जिस प्रकार श्लेष श्लकार के प्रसंग में की जाती है। वे वहाँ हैं भी, केवल सांगीयता के कारण एक का भ्रम होता है। इसलिये प्रथम परवारणादि शब्दों से राजा इत्यादि का अर्थ बोध कराके विरत होने वाली अभिधा के पश्चात् द्वितीय शब्द की उपस्थिति के कारण द्वितीय शब्द निष्ठ अभिधा शक्ति से ही दूसरे अर्थ का बोध हो सकता है। इसके बोध के लिये अर्थ वृत्ति की कल्पना करने से क्या लाभ? इस कथन का उपस्थापन आचार्य ने पूर्व पक्ष के रूप में किया है। इस पूर्व पक्ष का खंडन करते हुये वे कहते हैं, 'इस प्रसंग में यदि दो शब्दों की कल्पना की जाय तो प्राकरणिक अर्थ की प्रथम प्रतीति किस प्रकार होगी। प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से स्वीकार करने पर कौन से अर्थ की प्रतीति पहले और कौन से अर्थ की बाद में मानी जानी चाहिये। दोनों समकालिक प्रतीति असम्भव है। द्वितीय अर्थ के बोध में अभिधा स्वीकार करने पर शब्द की कल्पना आवश्यक होगी, परंतु धर्मो शब्द की कल्पना के स्थान में उसके धर्म-वृत्ति की कल्पना में साधव है। इसलिये द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति ॥ लिये व्यञ्जना नाम की वृत्ति की स्वीकृति ही उचित है।'

प्रसन्नता इस बात की है कि जिस बात को लोचनकार ने बिना उपपत्ति के कह दिया था। उस बात की उपपत्ति देने की विश्वनाथ ने चेष्टा की। परंतु विश्वनाथ ने किसी न किसी प्रकार से परम्परा की पुष्टि ही की है। उनका कथन है कि प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से स्वीकार कर लेने पर किस अर्थ की प्रतीति पहले और किस अर्थ की बाद में स्वीकार की जायगी। ऊपर ध्वन्यालोक का सांशक्तिभट्ट ध्वनि का उदाहरण दिया जा चुका है। उसकी भीमासा ॥ लोचनकार ने स्वीकार किया है कि प्रकरण के कारण 'रुद्धिर्योगाद्वलीयसी' सिद्धांत का उल्लंघन करके ग्रीष्म ऋतु परक यौगिक अर्थ का ही बोध होता है। प्रकरण में इतनी शक्ति है कि रुद्धि का बल भी उसके कारण समाप्त हो गया है। उसी प्रकार 'भद्रात्मनो' उदाहरण में भी प्रकरण के कारण राजा परक अर्थ प्रथम और हाथी परक अर्थ बाद में सरलता से निश्चित हो सकता है। प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति सवत्र पहले होगी और अप्राकरणिक अर्थ की याद में। वस्तुतः दपणकार की यह आपत्ति तर्क-सम्मत नहीं जान पड़ती है। उनको दूसरी आपत्ति है कि द्वितीय अर्थ के बोध में अभिधा स्वीकार कर लेने पर 'अर्थभेद' शब्द भेद भिन्न शब्दों की कल्पना करनी पड़ेगी। यह भी कोई आपत्ति है। यदि यह आपत्ति उठानी थी तो श्लेष प्रसंग में क्या नहीं उठाई? श्लेष प्रसंग में साहित्य-दर्पण में उही ने द्वितीय अर्थ के लिये शब्द कल्पना को प्रश्रय दिया है। यहाँ उसी सिद्धान्त के उपयोग से अर्थात् क्यों? ऊपर से तो कोई कारण जान नहीं पड़ता है। कारण तो केवल इतना ही जान पड़ता है कि परम्परा का विरोध किस प्रकार किया

जाय ? उन्होंने एक बात यह कही कि धर्मों की कल्पना से धर्म की कल्पना श्रेयस्कर है अर्थात् द्वितीय अर्थ के बोध के लिए भिन्न शब्द-कल्पना और पुनः अभिधा से उसकी अर्थ प्रतीति मानने में अधिक कठिनाई है, अप्राकरणीक अर्थ का व्यञ्जनागम्य स्वीकार कर लेने पर सरलता है। यह भी वक्षानिक तक नहीं है। समझ में तो ऐसा आता है कि पूर्व पक्ष में उन्होंने अपनी यथायथायता का उल्लेख करके परम्परा पोषण के लिये उसका अतत्प्यपूर्ण खडन कर दिया है।

अप्यय द्योक्षित का मत—

वृत्ति वार्तिक नामक अपने लघुनाय ग्रन्थ में अप्यय द्योक्षित ने अभिधा पर विचार करते हुये अभिधामूला शब्दी व्यञ्जना की समीक्षा की है। उन्होंने इस समीक्षा की हृदयगम कराने के लिये 'असावुदयमारूढ' श्लोक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यहाँ उदय, रक्त मण्डन और परमादि द्वयक शब्दों के प्रयोग के कारण दो भिन्न भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। इन दोनों अर्थों में से एक चन्द्र सम्बन्धी अर्थ प्राकरणीक है और राजा से सम्बद्ध अर्थ अप्राकरणीक। प्राचीन ध्वनिवादो धर्मिनवगुप्त आदि यहाँ अप्राकरणीक अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से ही स्वीकार करेंगे। परन्तु इसके विपरीत भानन्दवर्धन की परम्परा का समर्थन करते हुये आगे उन्होंने अपने मत का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि यहाँ पर चन्द्रवाला प्राकरणीक अर्थ है और राजावाला अप्राकरणीक अर्थ। इस पक्ष से जिस प्रकार चन्द्र वाले प्राकरणीक अर्थ की प्रतीति हो रही है उसी प्रकार राजा वाले अप्राकरणीक अर्थ की प्रतीति भी। प्रथम अभिधा प्रकरण के कारण चन्द्र वाले प्राकरणीक अर्थ में नियमित हो गई। इससे प्राकरणीक अर्थ में राज कर, मण्डल आदि द्वयक शब्दों से चन्द्र किरण, विष्णु आदि अर्थों का बाध होता है। उसी प्रकार राजापरक अप्राकरणीक अर्थ में भी इन्हीं द्वयक शब्दों से नृपति योग्य एवं तद्ग्राह्य धन, देश आदि वाच्याय का बोध होता है। वे जिस प्रकार प्राकरणीक अर्थों के वाचक हैं उसी प्रकार अप्राकरणीक अर्थों के भी वाचक प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए जिस प्रकार चन्द्र परक प्राकरणीक अर्थ की प्रतीति अभिधा से होती है। उसी प्रकार राजा परक अप्राकरणीक अर्थ की प्रतीति भी अभिधा से हो जाती है। श्लिष्ट शब्द जिस प्रकार प्राकरणीक अर्थ के नियामक हैं उसी प्रकार वे अप्राकरणीक के भी नियामक हैं। अतः जिस प्रकार दोनों अर्थों के प्राकरणीक होने पर दोनों जगह अभिधा व्यापार होता है, उसी प्रकार एक अर्थ के प्राकरणीक और दूसरे के अप्राकरणीक होने पर भी अभिधा व्यापार ही होता है।^१ अप्राकरणीक अर्थ की प्रतीति में प्राचीन आलंकारिक व्यञ्जना क्यों मानते हैं,

१ असावुदयमारूढ कान्तिमान् रक्तमण्डल ।

राजा हरति लो कस्य हृदय मनुजि करे ।

१ उदयाचल पर आरूढ साल रग वाला कान्तिमान् चन्द्र कोमल किरणों से लोगों के हृदयों को आकृष्ट करता है ।

२ उत्तिशील प्रजा का अनुरजन करने वाला राजा खोटा कर ग्रहण करने के कारण प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है ।

२ वय सुत्रम्—'असावुदयमारूढ' इत्यादी—प्राकरणीकेऽर्थे प्राकरणीक वद प्राकरणीकेऽपि राजकर मण्डलादि शब्दानां परस्परवाच्ययोग्य नृपति तद्ग्राह्यधन देशादि वाचकानां समभिधायाहाररूपमभिधानियामनमस्तीत्ययं द्वयस्यादि प्राकरणीक इव प्राकरणीका प्राकरणीक रूपत्वेऽप्युभयव्यामिश्रव व्यापार यथोक्त समभिधाहारस्यापि शब्दांतर सनिविस्तरत्वेन प्रकरण वदभिधा नियामकत्वात् ।

अप्यय दीक्षित ने इसका उत्तर भी अपने हथ स देने का प्रयत्न किया है। उनका तात्पर्य यह है कि अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के प्रसंग में उपमा आदि साम्यमूलक असकार प्रतीयमान रूप में अवश्य विद्यमान रहते हैं उन्हीं की दृढ़ता के अभिप्राय से प्राचीन शालकारिक अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में भी व्यञ्जना-व्यापार मानन लगे हैं। वे वस्तुतः व्यञ्जना-व्यापार के अस्तित्व के कारण ऐसा नहीं करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि श्लेष की भांति अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के भी दोनों अर्थ प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अभिधेय होते हैं।

पण्डितराज का मत—

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि ध्वनिकार की मायता जिस पर लोचनकार के कारण पर्दा पड़ गया था और जिसको विश्वनाथ इत्यादि आचार्य पूर्व-पक्ष में रखते रहे थे, को अप्यय दीक्षित ने पुनरज्जीवित करने उत्तर-पक्ष में खड़ा कर दिया। इस मायता को पण्डितराज का भी समर्थन हुआ।

यह पहले कहा जा चुका है कि इस विषय पर मम्मट ने कोई विवाद खड़ा नहीं किया, विश्वनाथ ने काव्य प्रकाश दण्ड में इस प्रश्न की पूर्व पक्ष में उठाया तो अवश्य परन्तु कतिपय सिधिल तर्कों से परम्परा का अनुमोदन कर विषय को चलता कर दिया। पण्डितराज ने जिस प्रकार अथ प्रश्नों की वारोकियों में प्रवेश किया, उसी प्रकार इस प्रश्न की वारोकियों की ओर भी उनका ध्यान गया। उन्होंने अपने रस मगधर में इससे सम्बंधित भिन्न भिन्न मतों का सग्रह किया है। जिनको अन्तराश यहाँ उद्धृत करना आवश्यक नहीं है। परन्तु उन्होंने अपने प्रौढ़ तर्कों से यह निदिष्ट कर दिया कि अप्राकरणिक अथ भी प्राकरणिक की भांति बाध्याय ही है।

पूर्व पक्षी व्यञ्जना वादियों ने तर्कों का उत्तर देते हुये पण्डितराज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नानाथ शब्दों के प्रयोग स्थलों में श्लेष की भांति दोनों अर्थों की एक साथ प्रतीति होती है। उसमें प्रकरण आदि कोई बाधक नहीं होता है। वस्तुतः जिस प्रकार श्लेष भलवार में दोनों अर्थ एक साथ अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत होते हैं उसी प्रकार व्यञ्जना में भी। अभिप्राय यह है कि पण्डितराज के अनुसार दोनों अर्थ बाध्याय ही होते हैं और दोनों का बोध अभिधा शक्ति से ही होता है इसलिए द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यञ्जना को स्वीकार करना अनुचित ही है।^१ इसके विपरीत पण्डितराज कुछ ऐसे स्थल भी स्वीकार करते हैं जहाँ पर अप्राकरणिक अर्थ व्यञ्जना से ही प्रतीत होता है। उन्होंने ऐसे स्थलों में जहाँ रुढ़ अथवा यौगिक अनेकायक शब्दों का प्रयोग होता है अप्राकरणिक अर्थ का बोध अभिधा से स्वीकार किया है, किन्तु योग रुढ़ अथवा यौगिक रूढ़ अनेकायक शब्दों का प्रयोग होने पर अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति

१ प्रतीयमाने उपमाद्यर्थालंकारे तदवश्यभाव दृढीकरणाभिप्रायेण न तु तत्रापि वस्तुतः व्यञ्जना-व्यापारा स्तित्वाभिप्रायेण। वही पृ० १३

२ (घ) नानाथस्थलेऽपि तात्पर्यविषय कारणताया सिधिली भवत्यामतात्पर्यायि विषय शब्द वृद्धि सपादनाय व्यक्ति स्वीकारोऽनुचित एव शक्तियैव बोधद्वयोपपत्तेः।

में व्यञ्जना व्यापार ही स्वीकार किया है।^१ इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने यह उदाहरण दिया है—

अवलानो भ्रिय हृत्वा वारिवाहै सहानिशम् ।

तिष्ठति चपला यत्र स फाल समुपस्थित ॥

प्राकरणीक अर्थ—यह वह समय (चर्चकाल) आ गया है जब अवलामा की सोभा को हरण करके बिजली मेघों के साथ रात दिन रहा करती है ।

अप्राकरणीक अर्थ—यह वह समय आ गया है जब चपल स्त्रिया (पुश्चली) कमजोरी की लक्ष्मी का हरण करके रात दिन पानी डोने वालों के साथ रहा करती है ।

इस पद्य के प्राकरणीक अर्थ में अवलामा स्त्री के अर्थ में योगरूढ़ है वारिवाह मेघ के अर्थ में यौगिक रूढ़ तथा चपला बिजली के अर्थ में रूढ़ है । इस अर्थ में प्रायः शब्दों की रूढ़ि-शक्ति ही कार्य करती है । दूसरे अर्थ की प्रतीति में न तो अवयव यौगिक शक्ति ही काम करती है और न रूढ़ि मान ही । यहाँ दोनों का साम्य रहता है । इसलिये ऐसे स्थलों में व्यञ्जना व्यापार के बिना काम नहीं चल सकता है । इसके लिये वे एक समग्र श्लोक प्रमाण देते हैं, योग रूढ़ शब्दों की योग शक्ति जहाँ रूढ़ शक्ति के द्वारा नियन्त्रित हो जाय वहाँ योग वाले अर्थ की बुद्धि व्यञ्जना उत्पन्न करती है ।^२ नयनमायिक भी अभिधामूला गान्धी व्यञ्जना के अप्राकरणीक अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही स्वीकार करते हैं ।^३

निरूपण—

श्लेष और शब्द-शक्ति मूल ध्वनि में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है । इन शब्दों से भिन्न भिन्न अर्थों का सकेत-ग्रह है । यह सकेत ग्रह नहीं रूढ़ नहीं यौगिक और कभी यौगरूढ़ अथवा यौगिक रूढ़ होता है । अतएव अवलोकने के प्रथम क्षण में इन शब्दों के प्रमुख अर्थ बुद्धिगोचर होते हैं । दूसरे क्षण में कौन सा सकेतित अर्थ प्रकरण प्राप्त है और कौन-सा अर्थ नहीं, यह शका उत्पन्न होती है । मनुहरि की वारिवा म 'अनवच्छेदे' से इसी शका का उल्लेख है । तृतीय क्षण में प्रकरण ज्ञान होता है । इसी समय यह भी बोध हो जाता है कि प्रकरण में एक अर्थ की आकाशा है अथवा एक से अधिक की । श्लेष अलंकार में एक से अधिक अर्थ की प्रकरणगत आकाशा होती है, इसलिए वहाँ सभी अर्थों की प्राकरणीक माना जाता है । प्रथम क्षण में बुद्धिगोचर होने वाले अर्थों में से कम से कम दो अर्थ—श्लेष में कम से कम दो अर्थ अवश्य प्राकरणीक होंगे, दो से अधिक अर्थ हो सकते हैं जब श्लेष प्रणीत नैपथीय-चरित के पद्यनली प्रसंग में प्रकरणगत आकाशा की पूर्ति करेंगे । इस समय पाठक की बुद्धि एवं व्यवस्था और करेगी । वह यह भी

१ एवमपि योगरूढिस्थने रूढिज्ञानेन योगापरहरणस्य शक्यतश्चसिद्धया रूढयनधिकरणस्य योगार्थालिखितस्यार्थतरस्य व्यक्ति विना प्रस्तातिदुत्पन्नादा ।

—रस गंगाधर पृ० १४४

२ योगरूढस्य शब्दस्य योगेरूढया नियन्त्रिते ।

प्रिय योग स्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥

—रस गंगाधर, पृ० १४७

३ ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३२६

निरूप्य करेगी कि किस प्रकारण में कौन सा अर्थ नियंत्रण हो। इस नियंत्रण काय करते समय शब्द, उसका संकेतित अर्थ तथा नियामक प्रकारण तीनों तत्व बुद्धिगोचर रहेंगे। यही प्राचीनों का अर्थ में देन शब्द भेद वाला नियम है। यह काय दो भिन्न भिन्न क्षणों का है। एक क्षण में एक प्राकरणीक अर्थ का नियमन और दूसरे क्षण में दूसरे प्राकरणीक अर्थ का नियमन। यही प्राचीनों का श्लेष में दो अभिधा व्यापारों वाला सिद्धांत है। कहने का अभिप्राय यह है कि श्लेष में सभी प्राकरणीक अर्थ बाध्यार्थ ही होते हैं।

इस प्रकार शब्द शक्ति मूल ध्वनि में एक ही अर्थ की प्रकरणगत प्राकाशा होती है। श्रवण के तृतीय क्षण में प्रयुक्त अनेकार्थक शब्द का कौन सा अर्थ प्रकरणोपयुक्त है इसका निश्चय होता है। इस निश्चय के क्षण में अप्राकरणीक अर्थ स्मृति गोचर रहते हैं जो प्राकरणीक अर्थ का निश्चय होने ही स्मृतिवत् से पुनः बुद्धिगोचर हो जाते हैं। शब्द शक्तिमूल ध्वनि में प्रायः दो ही अर्थ वाले प्रसंग उपस्थित होते हैं जिनमें से एक अर्थ का प्राकरणीक अर्थ में नियमन होते ही प्रायः अर्थ अपने बाधक शब्द के साथ बुद्धि गोचर हो जाता है और इस अर्थ का निश्चय भी श्लेष वाले अर्थों की भांति द्वितीया अभिधा से हो जाता है। श्लेष में दोनों अर्थ तुल्य प्रधान और तुल्य रमणीय होते हैं और दोनों में कवि की विवक्षा होती है अतः इसमें कवि की विवक्षा प्राकरणीक से अधिक अलंकाराश में होती है और वह साम्यमूलक उपमादि अलंकार ही कवि का विवक्षित अर्थ होने से मुख्य रहता है। श्लेष में दो वस्तु बाध्य होती हैं और यहाँ प्रतीयमान शब्द शक्तिमूल ध्वनि में अलंकार होता है। पक्ष शब्दशक्तिमूल ध्वनि का अलंकार श्लेष की वस्तु की अपेक्षा अधिक रमणीय और चमत्कार युक्त होता है। यद्यपि इसके दोनों अर्थ प्रथम नितांत भिन्न जान पड़ते हैं। परन्तु रूपणा होते ही सम्बद्ध और चमत्कार युक्त प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण था कि आनन्द वर्धन, अभ्ययदीक्षित और पंडितराज ने दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही मानी है। इस मायता के पक्ष में एक प्रमाण यह भी है कि ध्वनि पूर्ववर्ती प्राचार्यों ने ऐसे स्थलों में जहाँ ध्वन्युत्तरवर्ती प्राचार्यों ने शब्दशक्तिमूल ध्वनि स्वीकार की है श्लेष अलंकार ही माना है।^१

शब्द शक्ति मूल ध्वनि और श्लेष का अन्तर—

शब्दशक्ति मूल ध्वनि और श्लेष में समानता होते हुये भी अन्तर है। दोनों में समानता के निम्नलिखित तत्व हैं १ दोनों में दो दो अर्थों की प्रतिभा होती है २ दोनों ही स्थितियों में दोनों ही अर्थ एक दूसरे से नितांत भिन्न होते हैं और ३ दोनों ही अर्थों का बोध भी अभिधा शक्तियों से होता है। दोनों के अन्तर के निम्नलिखित तत्व हैं १ श्लेष में दोनों अर्थ प्राकरणीक होते हैं परन्तु ध्वनि में एक अर्थ प्राकरणीक होता है और दूसरा अर्थ अप्राकरणीक होता है, २ श्लेष में दोनों अर्थ तुल्य प्रधान और प्रायः तुल्य रमणीय होते हैं, परन्तु इसमें अप्राकरणीक अर्थ मुख्य और अपेक्षाकृत अधिक रमणीय होता है और ३ श्लेष के साथ यदि कोई अलंकार है तो वह बाध्य ही होगा जबकि ध्वनि में अलंकार सवर्ग अनिवार्य रहेगा और वह भी व्यंग्य अथवा आक्षिप्त होगा।

ध्वनिकार और शब्द शक्तियुक्त्य ध्वनि—

ध्वनिकार न विवक्षिताय पर वाच्य सत्य-क्रम ध्वनि के दो भेद स्वीकार किये हैं एक शब्दशक्तिमूल और दूसरा अर्थशक्तिमूल । इनमें शब्दशक्तिमूलध्वनि का लक्षण उन्होंने इन शब्दों में किया है —

‘जिसमें शब्द के द्वारा न कहा हुआ किन्तु शब्द-शक्ति के द्वारा आक्षिप्त हो किया हुआ अलंकार प्रकाशित होता है, वह शब्द-शक्तिमूल ध्वनि माना जाती है ।’^१

इसी सत्य को धृति के गद्य भाग में पुनः इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, जिसमें ‘अलंकार ही, वस्तुमान नहीं, जिस काव्य में शब्द-शक्ति से प्रकाशित होता है वह शब्द शक्तिमूल ध्वनि होती है । ध्वनिकार इसे हट करने के लिये कहत है कि यह हमारी धारणा है ।’^२ सम्भव है मौखिक विवादों में इसका प्रतिवाद रखने के कारण ध्वनिकार को इस प्रकार जोर देकर चलना पड़ा हो । इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनिकार और धृतिवार यदि भिन्न भिन्न माने जायें तो दोनों ही शब्द मूल ध्वनि में वस्तु ध्वनि मानने के पक्ष में नहीं हैं । इस भाव्यता के पक्ष में दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होंने शब्द-शक्ति मूल ध्वनि की वस्तु ध्वनि का उदाहरण भी नहीं दिया है ।

अभिनवगुप्त और शब्द शक्तियुक्त्य वस्तु ध्वनि—

लोचनकार ने ध्वनिकार की उपर्युक्त भाव्यता को बिना किसी अनुनय के स्वीकार कर लिया है । उन्होंने इसी प्रसंग में अप्राकरणीक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में कई मतों का समग्र किया है परन्तु वस्तुध्वनि के सम्बन्ध में कोई प्रवल नहीं उठाया है । इसका तात्पर्य यही है कि आचार्य अभिनवगुप्त भी शब्द शक्तिमूल ध्वनि में वस्तु ध्वनि मानने के पक्ष में नहीं है । यदि उनको वस्तु ध्वनि अभीष्ट होती तो इस प्रसंग को वे अवश्य उठाते । इसका आशय यह है कि आनन्दधन तथा अभिनवगुप्त केवल अलंकार ध्वनि को ही शब्दशक्तियुक्तध्वनि ध्वनि मानते हैं । वस्तु ध्वनि को नहीं । वे दोनों शब्द शक्तिमूल ध्वनि का केवल एक ही भेद अलंकार ध्वनि स्वीकार करते हैं ।

मम्मट और शब्दशक्तियुक्त्य वस्तु ध्वनि—

ध्वनिवादी आचार्यों में अभिनवगुप्त के पश्चात् मम्मट का स्थान है । भाव्यता के अनुरोध से तो उनका सब प्रथम स्थान है । अधिकतर स्थानों में उन्होंने लोचनकार का अनुगमन किया है, परन्तु शब्दशक्तियुक्त्य वस्तु ध्वनि के प्रसंग में वे लोचनकार की भाव्यता का अनुगमन नहीं करते । उन्होंने शब्दशक्ति मूल ध्वनि का लक्षण और भेद करते हुए लिखा है, “जहाँ पर शब्द से ही अलंकार अथवा वस्तु की व्यञ्जना होती है और उसकी प्रधानता भी होती है, वहाँ पर शब्दशक्तियुक्तध्वनि

१ आक्षिप्त अलंकार शब्द शक्त्या प्रकाशिते ।

यस्मिन्नुक्त शब्दे न शब्द शक्तियुक्तध्वनि हि स ।

—ध्वयालोक, २-२१

२ यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्द शक्त्या प्रकाशिते स ।
शब्द-शक्तियुक्तध्वनि ध्वनिरिव्यस्माकं विवक्षितम् ॥

—ध्वयालोक, २-२१ की वृत्ति ।

मानी जाती है। वह दो प्रकार की होती हैं—१ ध्रुवकार ध्वनि और २ वस्तुध्वनि।^१ उन्होंने वस्तु ध्वनि का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

पथिक ! पहाड़ी ग्राम मे प्रस्तर को नहि नाउ ।

उठे पयोधर देखिके चाहो तो बसि जाउ ।^२

साहित्य वपणवार न इस विषय मे काव्य प्रकाशकार का अनुसरण किया है। उनको शब्द शक्ति मूल वस्तु ध्वनि विषयक मायता भी यही है और उन्होंने उदाहरण भी यही दिया है। फलत इस पर विचार करने से दोनों आचार्यों की मायताओं का एक साथ विचार हो जायगा। उपपुस्तक उदाहरण मे किसी उन्नत पयोधरा, स्वरिणी युवती की पथिक के प्रति उक्ति है। उसका अभिप्राय है कि यदि तुम उपभोग-सम हो तो यहाँ पर रात्रि निवास करो। इस प्रसंग मे इस व्यंग्य के दो तत्त्व प्रधान नियामक हैं—१ वस्तुवर्गिष्ठ्य और २ श्लिष्ट शब्द।

यहा पर यह पुन कह देना आवश्यक है कि आर्यों यजना म प्रकरण वक्तादि विशिष्टता की विशेष आवश्यकता होती है। शाब्दी व्यञ्जना म उसका सव्या अनुपयोग अवश्य नहीं होता है पर तु उसम प्रकरण की वैसी नियामकता नही होती जसी आर्यों में होती है। ध्वन्यालोक में प्रदत्त उदाहरण 'दत्तात्रेय प्रजाना म प्रकरण का विशेष महत्व नही है। इसे किसी सूप भक्त की उक्ति मानने पर भी जो अर्थ होगा किसी साधारण व्यक्ति की उक्ति मानने पर भी वही अर्थ होगा, अर्थ में अधिक भन्तर नही आयेगा। यही कारण था कि काव्य प्रकाशकार ने शाब्दी व्यञ्जना के प्रसंग मे प्रकरण की नियामकता का उल्लेख ही नही किया है। प्रकरण की नियामकता का उल्लेख केवल आर्यों के ही प्रसंग में किया गया है। परन्तु इस पद्य का व्यंग्य वक्तादि की विशिष्टता के कारण ही निबलता जान पड़ता है। उन्नत पयोधरा स्वरिणी युवती के स्थान पर इसी बात को पथिक से कहने वाली कोई शिथिल पयोधरा गिथिल शरीरा बद्धा मान लो जाय तो उही श्लिष्ट शब्दों के रहने पर भी यह व्यंग्य कदापि न निकलेगा। अपितु उसमे श्लेष का चमत्कार भी दरिद्र के मनोरथ की भाँति उठकर बिलीन हो जायगा। इससे यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि यहाँ पर व्यंग्य का एक मात्र नियामक वचनादिवशिष्ट्य युक्त प्रकरण ही है। श्लिष्ट शब्द नही है। जबकि शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि में शब्द केवल पर ही दूसरे अर्थ की यचना होनी चाहिए। फलत इस उदाहरण की शुद्ध शब्दशक्तियुद्धम ध्वनि का उदाहरण न मानकर उभयशक्ति मूलक ध्वनि का उदाहरण माना जाना चाहिए। कदाचित् इसी आधार पर ल्यक ने काव्य प्रकाश की सकेत नामक टीका म काव्य प्रकाश की मायता का खण्डन किया है।^३ ल्यक के मत म काव्य प्रकाश के द्वितीय उदाहरण में वस्तु ध्वनि मानी जा सकती है। काव्य प्रकाश का दूसरा उदाहरण यह है—

१ अलकारोऽय वस्तुवैव शब्दावभावाभासते ।

प्रधानत्वेन सन्नेप शब्दशक्त्युद्भवो द्विषा ॥

—का० प्र०, ४-५३

२ काव्य प्रकाश, ४-५८

३ ध्वन्यालोक—तात्पर्य टीका, पृ० ५१२

शनिरश्निश्च तमुच्चनिर्हतिं कृष्यसि नरेद्र यस्मै त्वम् ।

यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥^१

इस पद्य के 'भात्युदारोऽनुदारश्च' में 'बाल बोधिनीकार' और काव्यप्रकाश की हिंदी प्रभा के टीकाकारों ने विरोध ध्वनि स्वीकार की है। इसलिये इस पंक्ति को विवादस्पद मानकर छोड़ दिया जाता है। इस पर विचार नहीं किया जाता है। पद्य के 'शनिरश्नि' में काव्य प्रकाशकार ने भी वस्तुध्वनि स्वीकार की है, 'विरोधी भी तेरे अनुगामी होकर एक कार्य करते हैं।' इसके 'नश्च' अर्थ में बाल बोधिनीकार ने विरोधध्वनि स्वीकार की है।^२ वस्तुतः यहाँ भी विरोध में ही अधिक चमत्कार है। ध्वन्यालोक की टीका तारावती के टीकाकार ने लिखा है, 'उपमेद कल्पना में इस बात पर ध्यान रखना होगा कि पाठकों के लिए चमत्कार विधान किस तत्त्व पर आधारित है। यदि चमत्कार विधान साम्य पर निर्भर है तो वह अलंकार ध्वनि कहो जावेगी, यदि उसका आधार द्वैर्भाव वादा का प्रयोग है तो वह श्लेष अलंकार कहा जावेगा और यदि उसका आधार शब्द केवल पर निकलने वाला दूसरा अर्थ है तो वह वस्तुध्वनि कहलावेगी।' इसी सिद्धांत को कसौटी मानकर शनि और अशनि एक घम सम्भव मानने से तुल्ययोगिता में और व्यर्थ विरोध में, उपयुक्त वस्तुध्वनि को प्रपञ्चा अधिक चमत्कार है। इसलिए यह भी वस्तुध्वनि का उपयुक्त उदाहरण प्रतीत नहीं होता है। इसलिये भगवद् और विश्वनाथ की दशशक्त्युत्पत्ति वस्तुध्वनि विषयक भाष्य-सामों का निराकरण हो गया।

पंडितराज और शब्द शक्त्युत्पत्ति वस्तुध्वनि—

रसगंगाधर के प्रणेता पंडितराज जगन्नाथ ने शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि को स्वीकार तो किया है, लेकिन बड़े तक विनय के पश्चात्। संक्षेप में उनके कथन पर भी विचार कर लिया जाय। पंडितराज ने प्रायः आलम्बघन और अभिनवगुप्त का सोपपत्तिक अनुकरण किया है। यहाँ भी उन्होंने अपनी दादनिष्ठ सूक्ष्मदृष्टि से मार्ग प्रशस्त अवश्य किया है, परन्तु न जाने यहाँ उनका अनुकरण क्या न कर सके? पंडितराज ने दशशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण यह दिया है, 'कोई कामव्यगता स्वरिणी युवती किसी पथिक को देखकर अपनी अन्तरंग सखी से कह रही है—'राजा के मेरे प्रतिकूल होने के कारण मेरे लिये बहुत बड़ा भय उपस्थित हो गया है, हे बाले! पथिक को वास देने की व्यवस्था से उस भय का निराकरण करो।' यहाँ पर राजा शब्द के दो अर्थ हैं, भूपति और चन्द्रमा। युवती प्रकट रूप में नृपतिपरक बात कहती है किन्तु चन्द्रपरक भय कर लेने पर कामोदीपन की व्यञ्जना के साथ प्रतीत होता है कि नायिका पथिक के साथ सहवास की आकांक्षा व्यक्त कर रही है। हम की सीमासा करते हुए पंडितराज ने लिखा है, 'यहाँ न तो राजा और चन्द्र भ उपमानोंपमय भाव की कल्पना की जा सकती है और न इनकी अभेदता मानकर रूपक ही माना जा सकता है। कारण यह है कि उपमा अथवा रूपक वहीं होते हैं जहाँ उपमेय और उपमान दोनों एक साथ उल्लसित हों। यहाँ पर नृपपरक अर्थ का ग्रहण मुख्य अर्थ को छिपाने के लिये हुआ है। इसलिये उपमा और रूपक दोनों अलंकार कवि और वक्ता की विवक्षा का विषय नहीं हो सकते। दोनों अर्थ समभवद भी नहीं हो सकते क्योंकि दोनों

१ भा० प्रकाश, ४१५६

२ 'ननो भिन्नार्थत्व' एवं विरोध इत्यपि बोध्यम् ।'

३ रस गंगाधर ।

समवशा नहीं है एवं दोनों का असम्बद्ध रूप में प्रतिपादन हो कवि को अभीष्ट है। इस प्रतिपादन में ही राजा-परक अर्थ प्रथम क्षण में उल्लसित होगा और बाद परक अर्थ द्वितीय क्षण में। दोनों में आच्छाद्य आच्छादक भाव रहेगा। इसलिये यहाँ पर शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि ही मानी जायगी।^१

काव्यप्रकाश की उन्नत पयोधरा, स्वरिणी युवती भी अपने मत का को छिपाना चाहती है। सम्भव है पठितराज की आच्छाद्य आच्छादक भाव की कल्पना करने में काव्य प्रकाश के इस प्रकरण से प्रेरणा मिली हो। पठितराज के उदाहरण का प्रकरण भी ठीक वैसा ही है जसा काव्य प्रकाश का। यहाँ भी वक्ता और श्रोता दोनों एक से हो हैं। जिस प्रकार काव्य प्रकाश के वक्ता को बदल देने से उसकी वस्तुध्वनि समाप्त हो जाती है उसी प्रकार रस गंगाधर के उदाहरण में भी वक्ता को बदल देने से वस्तुध्वनि समाप्त हो जायगी। रस गंगाधर के उदाहरण के प्रकरण में एक बात और भी है जो काव्य प्रकाश के उदाहरण में नहीं है, वहाँ युवती स्वयं पथिक से कहती है, यहाँ पर वह अपनी अंतरंग सखी से। सखी (तो वस्तुतः उसके अभिप्राय को समझती है) तब उसको उससे बात छिपाने की आवश्यकता क्या पड़े है? इसका अर्थ है कि यह बात अत्यन्त निम्न में कही जा रही है। इस प्रकार प्रकरण को दोहरा बल मिल गया। कहने का तात्पर्य यह है कि पठितराज के उदाहरण में भी शब्द केवल पर-अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती है, प्रत्युत प्रकरण के कारण होती है। इसलिये काव्य प्रकाश के उदाहरण की भाँति यहाँ भी शुद्ध शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि नहीं मानी जा सकती है।

अप्रत्यक्ष दीक्षित और शब्द शक्त पुरुष वस्तुध्वनि—

यह तो पहिले बताया जा चुका है कि अप्रत्यक्ष दीक्षित अभिधामूला शब्दी 'यचना के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से मानते हैं। वे शब्दशक्तपुरुष वस्तुध्वनि के मानन के पक्ष में भी नहीं जान पड़ते हैं। वस्तुतः उही का मत ध्वनिवार और लोचनकार की परम्परा में है।

निष्कर्ष—डाक्टर रामसागर त्रिपाठी ने इस सम्बन्ध में स्वमत की स्थापना करने में अवसर पर पठितराज के मत की ही प्रायः अपन शब्दों में दुहराया है परन्तु उन्होंने उसका उदाहरण न देकर केवल यह कहा है कि 'ऐसे स्थान देखे जाते हैं जहाँ शब्द केवल पर दूसरा अर्थ निकलता है, और वक्ता का उस अर्थ की छिपाकर किसी अपन अंतरंग मित्र पर प्रकट करता ही अभीष्ट होता है। ऐसे स्थान पर वस्तुतः चमत्कार में मूलकारण वह छिपाकर कहा हुआ अर्थ ही होता है। वहाँ एक तो सादृश्य की ओर पाठक का ध्यान ही नहीं जाता और यदि जाता भी है तो वह इतना उपेक्षणीय होता है कि उसके आधार पर ही पाठक के चमत्कार का पथवसान नहीं हो सकता। चित्पट शब्दों से श्लेष की ओर यद्यपि पाठको का ध्यान जाता है तथापि उसमें ही सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं हो जाती। सौन्दर्य की विश्रान्ति तब होती है जब पाठक उस छिपाकर कहे हुए अर्थ का परिशीलन करता है। यह क्षेत्र शब्दशक्तिमूलक-वस्तुध्वनि का हो है मत उसका अपलाप नहीं हो सकता।^२ यहाँ पठितराज का ही मत दूसरे शब्दों में रखा गया है इसलिये जो कुछ

१ तारावती के आधार पर, पृ० ५२३

२ ध्व० ला० तारावती टीका, पृ० ५२४

यहाँ उस मत के निराकरण में कहा गया है वह यहाँ भी कहा जा सकता है । दूसरे विद्वान लेखक ने 'ऐसे स्थानों' की बात तो बही है । जहाँ शब्द शक्ति मूलक वस्तु ध्वनि का अपलाप नहीं हो सकना, परन्तु कोई उदाहरण नहीं दिया है । इसलिए उनका कथन केवल कल्पना पर आधारित है किसी उदाहरण पर नहीं । तीसरे अन्तरंग भिन्न से छिपाकर कही जाने वाली बात सदा भ्रम सन्निधि में ही होगी एकांत में नहीं, फलतः उस भ्रम का नियामक प्रकरण ही रहेगा । वस्तुतः वह भ्रम शक्ति मूल वस्तुध्वनि का प्रथम माना जायगा । चौथे उसमें चमत्कार भी नहीं होगा । चमत्कार की दृष्टि से तो वस्तुध्वनि तृतीय कोटि की ध्वनि है । इसमें स्वतः ही उतना चमत्कार नहीं होता जितना अलंकार ध्वनि और रस ध्वनियाँ में होता है । वह चमत्कार भ्रम शक्ति मूलक वस्तुध्वनि में घोड़ा बहुत होता भी है । शब्द शक्तिमूलक चमत्कार श्लेष के चमत्कार के अतिरिक्त दूसरा चमत्कार ही नहीं होगा । जितना चमत्कार प्रतीत होगा वह प्रकरण का चमत्कार होगा जैसा काव्य प्रकाश और रस मगधर के उदाहरणों में है । यदि चमत्कार होता तो ध्वनिकार, लोचनकार दोनों की सूक्ष्म दृष्टि से न बच पाता । फलतः इस वस्तुध्वनि में चमत्कार श्लेष के अतिरिक्त दूसरा नहीं होता । दूसरे भ्रम की प्रतीति जब अभिधा से होती है उस समय वस्तुध्वनि श्लेष का ही पर्याय होगा । अतः शब्द शक्ति मूलक वस्तुध्वनि स्वीकार नहीं की जा सकती ।

इन उल्लेख का अभिप्राय यह है कि सलदय त्रय-अर्थ में शब्द शक्ति मूल ध्वनि के केवल दो ही भेद ध्वनिकार की माय हैं—१ पदगत शक्ति मूलक अलंकार ध्वनि और २ वाक्यगत शब्द शक्ति मूलक अलंकार ध्वनि ।

शब्द शक्ति मूल ध्वनि के अतिरिक्त सलदयत्रय व्यंग्य का दूसरा भेद भ्रम शक्ति मूल ध्वनि है । ध्वनिकार ने अर्थशक्ति मूलध्वनि के दो भेद माने हैं—१ स्वतः समवी वस्तुध्वनि, २ कवि प्रीतिमान्ति निष्पन्न शरीर वस्तुध्वनि ।^१ यहाँ पर उन्होंने अर्थ की कारिका में अर्थों पिड्डिविधों में दो 'पद समूह का प्रयोग किया है । इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने वृत्ति में भी लिखा है, कवि प्रीतिमान्ति सिद्ध अर्थवा कविनिबद्ध वक्तु प्रीतिमान्ति सिद्ध वस्तु ध्वनि एक भेद और स्वतः सम्मवी दूसरा भेद । परन्तु आगे चलकर कवि निबद्ध वक्तु प्रीतिमान्ति सिद्ध वस्तु ध्वनि का उदाहरण भी दिया है फलतः लोचनकार ने भ्रम-शक्ति मूल ध्वनि के तीन भेद मान लिये हैं । उन्होंने 'प्रीतिमान्ति' की दो भागों में विभक्त कर दिया है । १ कवि प्रीतिमान्ति और २ कवि निबद्ध वक्तु प्रीतिमान्ति । इन का अनुकरण मम्मट एवं विद्वनाथ ने किया है, परन्तु पदितराज ने 'प्रीतिमान्ति' की दो भागों में विभक्ति करने वाली मायता का खडन करके पुनः ध्वनिकार की मायता का समर्थन किया है । हेमचन्द्र एवं माणिक्य चन्द्र ने भी कवि निबद्ध वक्तु प्रीतिमान्ति शक्ति की कवि प्रीतिमान्ति में ही स्थान दिया है ।^२ वस्तुतः प्रीतिमान्ति की दो भागों में विभक्त करना समीचीन नहीं है । ध्वनिकार ने ध्वनि के भेदोपभेदों की गणना करके किसी निश्चयात्मक संह्या का उल्लेख नहीं किया है । लोचनकार ने ध्वनि के छह भेद पेंतीय, मम्मट और विद्वनाथ ने छत्रय ५१ ५१ और पदितराज ने २६ स्वीकार किये हैं । लोचन में भ्रम शक्ति मूल ध्वनि के प्रवच की व्यञ्जकता की दृष्टि से भेद नहीं किये हैं ।

१ ध्वनिकार, २१२५

२ छारावती, पृ० १७६

मम्मट ने अथ शक्ति मूल ध्वनि में भी प्रबन्ध की व्यञ्जकता मानी है। इस प्रबन्ध की मायता के अनुसार ध्वनि के ३७ भेद हुये। रीतिकालीन आचार्यों ने अधिकतर मम्मट का ही अनुकरण किया है। उन भेदोपभेदों का विशेष उल्लेख प्रागे होगा।

ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान एवं अतिशय चमत्कार युक्त होता है। यदि वह अप्रधान अथवा वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कार युक्त होता है तो काव्य को गुणीमूल-व्यंग्य की संज्ञा दी जाती है। व्यंग्य अर्थ की स्थिति की दृष्टि से ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों में इस पर भी विचार हुआ है।



तृतीय अध्याय
ध्वनि का व्यावहारिक परिचय

व्यञ्जना वृत्ति

गत अध्याय में ध्वनि का सद्धान्तिक निरूपण करने का यत्न हुआ है। 'ध्वनि' शब्द के व्युत्पत्तिपरक पाँच अर्थ होते हैं। उनमें एक अर्थ—ध्वन्यते जनया इति, व्यञ्जनावृत्तिपरक होता है। ध्वनि की स्थापना के पूर्व काव्यक्षेत्र में लक्षणावृत्ति प्रवेश कर चुकी थी। वज्राक्ति के लक्षण में वामन ने उसका उल्लेख किया है।^१ उद्भट के कायालङ्कार-सार संग्रह के पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण में चौथी वृत्ति और उसके प्रवर्गमन नाम का भी उल्लेख है। इसीलिये भानु-व्यघन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत के अन्त में अक्ति और व्यञ्जना में अन्तर स्पष्ट किया है। अक्ति, गुण वृत्ति आदि लक्षणावृत्ति के ही नाम हैं। ध्वन्यालोककार ने लक्षणावृत्ति से ध्वनि का जहाँ पर भेद स्पष्ट किया है वहाँ पर उहने ध्वनि से व्यञ्जनावृत्ति को ही स्वीकारा है, परन्तु उहोने व्यञ्जनावृत्ति का नामोल्लेख कहीं पर नहीं किया है और न उसका विवेचन ही किया है। उसका वृत्ति रूप से भिन्न विवेचन सबप्रथम काव्यप्रकाश में उपलब्ध है। किन्तु व्यञ्जना का वृत्तिपरक लक्षण उहोने भी नहीं किया है। व्यञ्जना का वृत्तिपरक सरल एवं सुन्दर लक्षण, सबसे पहले साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में किया है। वह इस प्रकार है, 'जब भूमिधा और लक्षणा वृत्तियाँ विरत हो जाती हैं तो व्यञ्जना वृत्ति द्वारा अर्थ अर्थ की प्रतीति होती है।'^२

ऐतिहासिक आचार्यों ने समाप्रकाश के रचयिता आचार्य हरिचरणदास ने इसका लक्षण निम्न प्रकार से दिया है :

वृत्ति व्यञ्जना व्यर्थ जो व्यक्त करने की योग ।

जहाँ ॥ भूमिधा लक्षणा तात्पर्या न समर्थ ।

शब्द अर्थ से व्यञ्जना रच सु औरे अर्थ ।^३

'जो वृत्ति यथायथ को व्यक्त करने में समर्थ है वही वृत्ति व्यञ्जना है। जहाँ भूमिधा, लक्षणा और तात्पर्या किसी अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती हैं तो शब्द और अर्थ की सहायता से जो वृत्ति अर्थ अर्थ की प्रतीति कराती है उसे व्यञ्जना कहते हैं।' इस लक्षण के पूर्वार्द्ध में जोबो सी शिथिलता है किन्तु उसका दूसरा भाग समुचित और वज्ञानिक है। स्पष्ट है कि यह लक्षण साहित्य दर्पण के आधार पर किया गया है किन्तु उसमें सभी शब्दवृत्तियों के नामों का समावेश नहीं है। आचार्य विश्वनाथ ने 'भूमिधा आदि' पद का प्रयोग किया है किन्तु हिन्दी के लक्षण में शब्द की तीनों शक्तियों 'भूमिधा, लक्षणा, तात्पर्या' का नामित उल्लेख है। ध्यान रहे कि 'ध्वनि'

१ साहित्याल्लक्षणा वज्रोक्ति । का० सू० वृ० ४ ३ ८

२ विरतास्वभूमिधाधामु यथार्थो बोध्यते पर ।

सावृत्तिव्यञ्जना नाम शब्दस्वार्थादिकस्य च ।

सा० पृ० २ ११

३ समा प्रकाश २ १७ १८

वियोग में कथित पदार्थ उसका लक्षण होता है। यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि जिन पदों का प्रयोग सयोग में किया जाता है उही का प्रयोग वियोग की स्थिति में होता है। इस सम्बन्ध में तत्त्व का उल्लेख मम्मट और विश्वनाथ ने भी नहीं किया है और ऐतिहासिक आचार्यों में से भी हरिचरणदास के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया है। उन्होंने अपने इस मत को इस प्रकार रखा है

अनेकाय है शब्द इह लक्षण लक्ष्य सखाइ ।
यों ही अथ वियोग करि सो सयोग ठहराय ॥

जो जानने योग्य है वह लक्ष्य है और जिससे जाना जाता है उसे लक्षण मात है। यथा गदापदम सहित विष्णु अथवा गदा पदम बिना विष्णु पद समूहों में विष्णु शब्द अनेकायवाची है। इसके अथ विष्णु, चन्द्रमा और कपूर आदि हैं। इन अर्थों में से गदापदम विष्णु के ही लक्षण हैं फलतः विष्णु का अथ चन्द्रमा और कपूर आदि नहीं होगा, परन्तु विष्णु ही होगा।

सयोग से—

हरि सोभिन हैं चक्र सों निब कर लस त्रिशूल ।
पुष्कर सोभित चक्र सों बन पसास के पूल ॥

हरि के विष्णु सूत्र आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु विष्णु लक्ष्य है और चक्र लक्षण है इसलिये हरि का अथ विष्णु, इसी प्रकार त्रिशूल लक्षण के कारण निब का अर्थ महादेव, चन्द्र लक्षण से पुष्कर का अर्थ आकाश, तालाब नहीं और पूल लक्षण से बन का अर्थ बाग, जल नहीं। दूसरा उदाहरण भी सुन्दर है। वह यह है —

घन की सोभा कज है सर की सोभा नीर ।
अम्बर सोभा जोह है घर की सोभा चीर ॥

कज लक्षण से बन का अर्थ जल, नीर लक्षण से सर का अर्थ तालाब बाग आदि नहीं, जोह चादनी लक्षण से अम्बर का अर्थ आकाश, वस्त्र आदि नहीं और चीर लक्षण से घर का अर्थ शरीर, पृथ्वी नहीं। हमारी समझ में इस बोधे में कज, नीर और ओत्समा तो क्रमशः बन सर और अम्बर के लक्षण हैं परन्तु चीर घर शरीर का लक्षण नहीं है।

वियोग से—

भाग न सोहत भव बिना राग कहा दिन तान ।
बाग न सोहत अथ बिन मुख न लस बिनु पान ॥

मद लक्षण के वियोग से भाग का अर्थ हाथी सप नहीं तान लक्षण के वियोग से राग का अर्थ गान प्राप्ति नहीं, अथ लक्षण के वियोग से बाग का अर्थ बाणी वाटिका नहीं है। यहां पर भी पान और आनन में लक्षण लक्ष्य सम्बन्ध नहीं है।

जहां प्रयुक्त अनेकायक शब्द के साथ ऐसे शब्द का प्रयोग हो जो अनेकायवाची के समान प्रधान भी हो परन्तु उसका लक्षण न हो और यह दूसरा शब्द स्वयं अनेकायक हो तो उहाँ साहचर्य के कारण अनेकायक शब्द का अर्थ निश्चित होता है।

साहचर्य से—

जीत तहाँ सपति तहाँ घम को जोर ।
अरि करि सक न शत्रुता हरि भरजुन जिहि धोर ॥

अनु न हरि के समान ही प्रधान है। दोनों ही शब्द अनेकायक हैं। दोनों में लक्षण तद्वय सम्बन्ध भी नहीं है। अनु न के साहचर्य से हरि का अर्थ कृष्ण, रवि आदि नहीं, और हरि के साहचर्य से अनु न का अर्थ पाय वृक्ष नहीं।

साहचर्य में दोनों शब्दों की समान प्रधानता होती है और दोनों ही शब्द अनेकायवाची होते हैं। इन दो तत्त्वों का उल्लेख सस्कृत के आचार्यों ने नहीं किया है हिन्दी के ऐतिहासिक आचार्यों में इन तत्त्वों का उल्लेख केवल हरिचरणदास ने किया है।

यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साहचर्य संयोग और प्रत्यय दोनों से भिन्न है। इन दोनों में एक ही शब्द अनेकायवाची होता है। यहाँ दोनों शब्द अनेकायवाची होते हैं।

साहचर्य और विरोध में दोनों शब्दों की प्रधानता होती है, परन्तु साहचर्य में दोनों शब्द अनेकायवाची होते हैं, विरोध में एक ही अनेकायवाची होता है और दोनों के मध्य विरोध की ही प्रधानता होती है। यही साहचर्य और विरोध दोनों का अन्तर है। विरोध का उदाहरण—

बेसो रं रावन राम में लखौ प्रलभ सु राम।

इन दोउ रामनि में ही कौन और को इयाम ॥

यहाँ राम रावण में लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध भी नहीं है। दोनों ही साहचर्य के शब्दों की भाँति प्रधान भी हैं, दोनों में एक अनेकायवाची है। दोनों में यहाँ विरोध ही प्रधान है। विरोध का ही निम्नलिखित उदाहरण है—

वाञ्छक ललित हरिपति परम बल धीरज को धाम।

अरजुन को जिन मद बसो नमों नमों श्री राम ॥

परशुराम एक सहस्राजुन की धनुता प्रसिद्ध है। जबत इग दोहे में प्रयुक्त अनु न पद से सहस्राजुन का अर्थ ग्रहण किया जायगा पाठ्य अनु न का नहीं और श्रीराम से परशुराम का बोध होगा उत्तरय समय श्रीराम का नहीं।

कहीं कहीं वाक्य संगति अथवा अर्थ भी अभिप्रेत का नियामक होता है। अर्थ प्रसंग में भी शब्द बहुत अर्थवाचक होता है परन्तु जहाँ साहचर्य और बिना अर्थ शब्द की सन्निधि के अर्थ का नियमन पद समूह अथवा वाक्य के अर्थ से ही होता है, वहाँ अर्थ की ही नियामक मानना चाहिये। अर्थ का लक्षण इन शब्दों में किया है—

अर्थ हित बहु अर्थ की शब्द बुझाई एक।

साहचर्य बिन अर्थ संग अर्थ लखी सबिवेक ॥

अर्थ से—

विष्णु सों गति ओगी लहै हरिप्रिय जयत निहारि।

चित्रभानु ग्रह छति हर अम्बर हर्यो मुरारि ॥

यहाँ विष्णु का अर्थ नारायण है, चन्द्रमा नहीं। यह नारायण परन्तु अर्थ पूरे वाक्य का अर्थ करने पर निर्दिष्ट होता है। नारायण नारायण के अतिरिक्त यदि मुक्ति दूसरे से सम्भव नहीं है। वाक्य-संगति भी वे और पुराणा के प्रमाण आदि देन पर निर्दिष्ट होती है। इसी प्रकार हरि का अर्थ भगवान्, इन्द्र आदि नहीं चित्रभानु सूर्य अग्नि नहीं, और अम्बर का अर्थ वस्त्र आवास नहीं है। यहाँ अर्थ की सन्निधि भी नहीं है जैसे घन वरसत में घन के साथ वरसत पद का गति नहीं है। इसका निम्नलिखित भी एक सुन्दर उदाहरण दिया है।

आचत धुड़ महीसलों भुतस भोजन मम ।

निसदिन भजों गिरीग भय-भयन छेदन वम ॥

भव बधन काट ने के लिए गिरीश-शकर की आराधना करना ही उचित है । गिरीश हिमालय आदि का भजन करने से उपर्युक्त मनोरथ की सिद्धि न होगी अतएव गिरीश का अर्थ हिमालय न होकर महादेव होगा ।

प्रकरण का लक्षण—

एक शब्द बहु वाचक भान । प्रकरण तहाँ प्रसंग प्रमान ।

प्रकरण में भी कोई शब्द अनेकायवाची होता है । इस शब्द का एक अर्थ प्रसंग अथवा प्रकरण के कारण ही निश्चित होता है ।

प्रकरण का उदाहरण—

पावक तैं बाहक प्रबल को करि सक बखानि ।

बियो महावल जानिकै गरल भीम को भानि ॥

यहाँ भीम पद अनेकायवाची है । यह दोहा यदि समुद्र मंथन के प्रसंग में कहा जाय तो भीम का अर्थ महादेव—महादेव को समुद्र मंथन के पश्चात् विष पीने को दिया गया था और महाभारत का प्रसंग हो तो भीम का अर्थ पांडव भीमसेन होगा—पांडव भीम को दुर्योधन ने विष पिलाया था ।

यह पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि शाब्दी व्यञ्जना में भी प्रकरण अथवा प्रसंग का विशेष महत्त्व है, यद्यपि प्रकरण आर्थात् व्यञ्जना शाब्दी की अपेक्षा महत्वपूर्ण है ।

चिह्न अथवा लिंग का लक्षण निम्नलिखित है ।

बहै चिह्न जाकी नहीं सक बियाय बनाय ।

जो बियोग ताकी कर और अर्थ ठहराय ॥

चिह्न वह दृढ़ लक्षण है जिसका वियोग सम्भव न हो और यदि उसके दृढ़ लक्षण का वियोग कर दिया जाय अर्थात् उसका उल्लेख न किया जाय तो अर्थ अथ की प्रतीति होने लगे । चिह्न का उदाहरण—

बिन भूपन मन की हरै काहे करत सिंगार ।

तुम धवि पार सहे न हरि जाक नैन हजार ॥

इस दोहे में हरि शब्द अनेकायवाची है, परंतु उसके साथ उसके चिह्न हजार नेत्र का उल्लेख है इसलिए हरि का अर्थ इन्द्र निश्चित होगा । हजारों नेत्र ऐसा चिह्न है जिसका वियोग नहीं किया जा सकता है । यदि हजार नेत्र का यहाँ उल्लेख न किया जाय तो इन्द्र अर्थ नहीं होगा, राजा आदि अर्थ की प्रतीति होने लगेगी ।

अर्थ-सन्निधि लक्षण—

एक सव के संग तैं और अर्थ ठहराय ।

बहुवाचक के शब्द की अर्थ सन्निधि इह भाद ।

जहाँ अनेकार्थवाची शब्द बहुवाचक का किसी अर्थ शब्द के संयोग अथवा सामीप्य के कारण अन्विष्ट निश्चित होना है वहाँ अर्थ शब्द सन्निधि ही नियामक मानी जाती है।
अर्थ शब्द सन्निधि का उदाहरण—

धन वरसत फूलत सुमन काम चलावत तीर ।
नयो नेह पिय को सख्यो तिय घर सकं न धीर ॥

वरपत की सन्निधि से धन का अर्थ मेघ होगा, लौह का धन नहीं, और फूलत की सन्निधि से सुमन का अर्थ पुष्प होगा, देवता नहीं। इसी प्रकार 'निसानारी भारी घटा' में कारी के सग से निसा का अर्थ रानि है, हल्दी नहीं है और पिया बिन सागत हैं अश्विद डरावनी में पिया के सामीप्य के कारण अश्विद का अर्थ मेघ है, नागरमौया नहीं है, वाजत निसाने शिवराजपू नरेस के' में वाजत से निसान का अर्थ नगाडा, पताका नहीं है। अर्थ उदाहरण दृष्टव्य है।

आन सख दिग तैं कहूँ बसे एकै अर्थ ।

सिखी पक्ष तैं जानिये, केकी पर समय ॥

यहाँ पर पक्ष शब्द के समीप प्रयुक्त होने से 'सिखी' का अर्थ मोर होगा, अग्नि नहीं।

जब कवि की उक्ति व्यर्थ होती जान पड़ती है तो अनेकार्थवाची शब्द का वही अर्थ निश्चित होता है जो अपनी सामर्थ्य के कारण उस अर्थ में सगति स्थापित कर देता है। इसीलिये इसे सामर्थ्य का नाम दिया जाता है।

सामर्थ्य का उदाहरण—

मुनि गन तजै समाधि-सुख जती तजै सब जग ।
मान रहै नहि तियनि की बोलत पिक मधु मत्त ॥

मधु का अर्थ प्रायः मदिरा होता है। पर तु उसका पान कोकिल के लिए सम्भव नहीं है। इस प्रकार कवि की उक्ति व्यर्थ होती सी जान पड़ती है। उस समय मधु का दूसरा अर्थ वसत ग्रहण किया जाता है। वसत म कोकिल को मतवाला बनाने की सामर्थ्य है।

सामर्थ्य का ही एक अर्थ उदाहरण भी दृष्टव्य है—

दास कह सामर्थ्य तैं, एक अर्थ ठहरात ।

ग्याल वृक्ष तोरयो कहूँ कुँजर जायो जात ॥

यह सामर्थ्य का उदाहरण है। 'ग्याल वृक्ष तोरयो' कहने में ग्याल का अर्थ हाथी होता है, सप नहीं। कारण, वृक्ष के तोड़ने की सामर्थ्य हाथी ही म है, सप में नहीं।

भौचिती का सङ्ग—

दो अर्थ के सम्बन्ध तैं निकरै जोग अजोग ।

जोग अर्थ तहाँ बिये सो भौचिती प्रयोग ॥

भौचिती अथवा भौचित्य में संयोगादि की अपेक्षा विरोधता यह है कि संयोगादि में प्रयुक्त शब्द बहुवाचक होता है परंतु भौचिती के प्रयोग में प्रयुक्त शब्द केवल दो ही अर्थ वाला होता है। इन दोनों अर्थों में से एक अर्थ ही भौचित्यपूर्ण होता है। उसको ग्रहण किया जाता है। इसलिये भौचिती ही अर्थ नियामक मानी जाती है।

भौचिती का उदाहरण—

बुनिर्धार स्रष्ट पर सति चिन अति अकुलाह ।

तहाँ तहाँ गुरु मुखनि को गुरुपद होत सहायो ॥

गुरुमुख के दो अर्थ हैं। एक गुरु के समान मुख और दूसरा गुरु के सम्मुख। इनमें प्रथम अयोग्य अथवा अनौचित्यपूर्ण है। दूसरा अर्थ भाग्य है।

ओचितो और सामर्थ्य का अंतर स्पष्ट करने की आवश्यकता है। कनक वरम तन कामनी मोहत मन नदनाल में कनक का अर्थ सुवर्ण है, धतूरा नहीं है। कनक के समान रंग में ही ओचित्यपूर्ण अर्थ है। यहाँ सामर्थ्य की सम्भावना अथवा शक्ति का स्थान नहीं है। कारण, सामर्थ्य में दोनों अर्थों में सदृश रहता है तब सामर्थ्य से अर्थ निश्चित होता है, परन्तु ओचितो के प्रसंग में निम्नलिखित दो अर्थों में एक अर्थ ओचित्यपूर्ण होता है।

काल से—

चित्रभानु को रूप ज्यों रजनो में अति होत ।

हरि छवि जसे विवस भ ज्यों तब धन उदोत ॥

यह दोहा समय काल की प्रधानता का उदाहरण है। चित्रभानु का अर्थ रजनो समय के प्रसंग से प्रगति होगा, सूर्य नहीं और दिवस समय के कारण हरि का अर्थ सूर्य होगा, चन्द्रमा नहीं।

शक्ति का लक्षण—

बहु वाचक में भेद बताव । लिंग वचन पुनि शक्ति कहाय ।

शक्ति में लिंग और वचन का ग्रहण होता है। जहाँ अनेकामवाची शक्ति का एक अर्थ लिंग पुल्लिङ्ग अथवा स्त्री लिंग और वचन—एक वचन अथवा बहु वचन के कारण निश्चिन होता है वहाँ व्यक्ति ही अर्थ का नियामक माना जाता है।

शक्ति का उदाहरण—

काहे को सोचति सबी काहे होत बिहाल ।

बुधि बल छल करि राखिहो, पति तेरी नथ बास ॥

यह अभिसारिका नायिका से अंतरंग सबी की वक्ति है। मैं तेरी पति लाज रखूँगी। यहाँ पति का अर्थ तेरी के स्त्रीलिंग प्रयोग के कारण लाज हो होगा स्वामी नहीं। यदि नायिका प्रोषित-पति का होती तो तेरी पति प्रयोग होता। ऐसी स्थिति में तारी पुल्लिङ्ग प्रयोग होता तो पति का अर्थ स्वामी निश्चित होता। हिंदी में ऐसे अनेक उदाहरण नहीं हैं। दूसरा उदाहरण भी हृदय है।

शक्ति (वचन) का उदाहरण—

सोहत अंगूठा पाइके अनघट जरयो जराय ।

जोख्यो तरबन दुति सुदर परयो तरनि तिय पाय ॥

यहाँ पर जोख्यो क्रिया एक वचन है। इसका यह अर्थ कि एक तरबन — पैर के नीचे का प्रदेश—न सूर्य को जीत लिया यदि दोनों तरबन होते तो रविचंद्र दोनों को जीत लेते इत्यादि धरति। यह ध्वनि वचन के कारण ही निश्चली है।

देश का उदाहरण—

रस ल पुनि तज देत है यसत न ठिक इक घाम ।

ज्यों बिहरत घनघाम नभ ज्यों बिहरत घन राम ॥

इस दोहे में घनघाम और राम अनेकाम हैं। घनघाम नभ आवास में बिहरते हैं। इससे नभ देश के कारण घनघाम का अर्थ भय होगा, कृष्ण नहीं और वज्र देश के कारण राम का अर्थ बल होगा, परशुराम अथवा दागराम नहीं।

देश का अर्थ उदाहरण—

देखे विरहृत गगन मे राधा हरि इक साथ ।

हरि राधा इक साथ ही चले गली मे जात ॥

यद्यपि राधा और हरि का साहचर्य है। दोनों की प्रधानता भी है। परन्तु गगन देश के कारण इनका अर्थ राधा और कृष्ण न होकर विसाखा अथवा अनुराधा नक्षत्र और चन्द्रमा होगा। दूसरी पंक्ति में गली देश की प्रधानता के कारण उपर्युक्त चन्द्रमा और नक्षत्र वाला अर्थ न होकर राधा कृष्ण वाला अर्थ ही निश्चित होगा। साहचर्य और देश का यही भेद है।

इस प्रकार अभिधामूला—शास्त्री ध्वनि के अंतर्गत उपयुक्त ते ह प्रकार के अर्थ नियामकों का उल्लेख किया गया है। स्वर आदि का प्रभाव वेद में ही होता है। काय में स्वर परिवर्तन से अभिधेय का नियंत्रण नहीं होता है। काय में इन्हीं तरह हेतुओं को अभिधेय का नियामक स्वीकार किया जाता है। इनके कारण अनेकान्यतः एक ही अर्थ में नियंत्रित हो जाते हैं, किन्तु इस नियंत्रित अभिधेय के अतिरिक्त भी यदि किसी अर्थ अर्थ का भी बोध होता है वही अभिधामूला शास्त्री व्यंजना मानी जाती है। श्लेष में एक पद के दो अर्थ प्रकरण सगत होते हैं। किन्तु अभिधामूला शास्त्री व्यंजना में एक ही अर्थ प्रकरण सम्पन्न और प्रकरण सगत होता है।

अभिधामूला शास्त्री व्यंजना का उदाहरण—

बहु चरन चंचल करि हसत रस भय करत बनाय ।

रहे उरवसी उर लगी राजत हो हरि राय ॥

यह किसी गोपी की उक्ति कृष्ण के प्रति है। कृष्ण के प्रति जितना अर्थ है वह अभिधा प्रतिपान्ति है। इसके अतिरिक्त इसमें रसमय जलमय, और उरवसी नाम की अप्रमदा आदि अर्थों के कारण एक अर्थ इन्द्र के प्रति भी लगता है।

अर्थ उदाहरण—

भयो भयत के कोपजुत, क बोरो इहि काल ।

मालिनि आनु कहैं न क्यों, वा रसाल की हाल ॥

मालिनी नायिका के पास पहुँचती है, किन्तु उसे नायिका से बातचीत करने के लिए एकान्त नहीं मिला है। मन्त्रेण दना आवश्यक है। नायिका भी सदेश पाने के लिए आतुर है। फलतः वह मालिनी से निम्न शब्दों में उपवनगत रसाल के माध्यम से नायक का सदेश पूछती है। नायिका के समक्ष विद्यमान अर्थ श्रोता केवल रसाल से सम्बद्ध अर्थ ही समझेंगे, कारण उपवन की ऐलमाल मालिनी ही करती है। यहाँ श्लेष भल्लार मानना उचित नहीं है। यद्यपि भयत, कोपजुत, बोरो और रसाल पदा के दूसरे अर्थों की सहायता से ही प्रश्न पूछा जा रहा है। पिछले अध्याय में शास्त्री व्यंजना और श्लेष का अंतर विशिष्टता स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि जिस अर्थ का बोध मालिनी और अर्थ श्रोताओं को समान रूप से होता है वही प्रसंग प्राप्त अर्थ है, उसके अतिरिक्त नायक गन अर्थ प्रसंग प्राप्त नहीं है वह केवल नायिका और मालिनी से ही सम्बद्ध है।

यहाँ प्रसंग अथवा प्रकरण ही अर्थ का नियामक तत्त्व है। प्रसंग के अनुसार उपवनगत-रसाल का वर्णन है परन्तु शब्द विभाग से नायक का अर्थ भी प्रतीति होता है। हिन्दी के वाक्य शास्त्र में अभिधामूला शास्त्री व्यंजना का यह सरल, सुबोध एवं सगत उदाहरण है।

सादी व्यंजना के अभिप्रायभेद का निरूपण हो चुका। आगे सक्षणामूला धाष्णी व्यंजना का निरूपण किया जाता है।

सक्षणा दो प्रकार की होती है—रूढा सक्षणा और प्रयोजनवती सक्षणा। रूढा सक्षणा में साक्षणिक धाष्णों का प्रयोग होता है जो किसी अक्षर विशेष पर रूढ हो गई हैं। उदाहरणतः प्रबोण, कुशल, पक्क आदि। प्रबोण पद का प्रारम्भिक अभिप्रेत बोला-वादन में दण और कुशल का कुश जाने में दक्ष था। किन्तु अब दोनों पद अपने साक्षणिक अक्षर में रूढ हो गये हैं। इसी प्रकार 'पक्क' का रूढ अक्षर कर्म है। इन धाष्णों के प्रारम्भिक अभिप्रेत अक्षर प्रायः भूले जा चुके हैं। इसीलिए आचार्य आनन्द-वर्धन ने 'रूढा सक्षणा' में व्यंजना की स्थिति स्वीकार नहीं की है। सक्षणामूला धाष्णी व्यंजना का आधार केवल प्रयोजनवती सक्षणा ही होती है। इसमें प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना से ही होती है।

काव्य प्रकाशकार और साहित्य दणकार ने प्रयोजनवती सक्षणा के दो भेद गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या माने हैं। किन्तु हिन्दी के रीतिवासीन आचार्यों ने ये सक्षणामूला धाष्णी व्यंजना के भेद स्वीकार किये हैं। हमारी सम्पत्ति में वे माने भी जा सकते हैं।

आचार्यों ने साहित्य-दण के अनुसार गूढ़ व्यंग्य उसे माना है जिसे केवल व्युत्पन्न सहृदय ही समझ सकते और अगूढ़ उसे जिस सबसाधारण समझ सकते।

कवि सहृदय जाओ सस व्यंग्य मुकटिये गूढ़।

जाओ सः जोऊ ससैं सो पुनि होइ अगूढ़ ॥

गूढ़-व्यंग्या का निम्नलिखित उदाहरण है—

भूले अक्षर अक्षर रचि राज बहुरंग मानो।

आवत अनय सग सोहैं छवि सी सखे ॥

मिली इमि बेति अन आगनि विलासनिती,

पूरन करत कोसी खोखरि बानि की।

सोमनाथ ध्यारे सलैं सोभ अन बामिनी की,

बामिनि की चाहै बुझि जर मुर बानि की

ओत गुल बेति अक्षर आनद की छू के छई,

बिरहीनि हूकैं बेति हूकैं मुरबानि की।

शिवनिता की सी अलकैं अवार अन,

ओहति बनार अन धार मुरबान की ॥

पति परदेन जाने के लिए प्रयुक्त है, उम समय पति को परदेन जाने से रोक्ने की इच्छा धानी मायिका वर्षा कामोद्दीव्य बरान करती है। इसमें किसी द्रव्य बेति से जड़ जगत् में भी संयोग की इच्छा बिरहीन हूकैं बेति में धातुक वियोग में मुझे अगार दुःख होगा, आदि कहकर परदेन जाने से रोकना चाहती है। यह रोकने की इच्छा ही व्यंग्य है। इसका पता बटिनाई से सहृदयों को ही लगता है।

गूढ़ व्यंग्या का अर्थ उदाहरण भी दृष्टव्य है—

आनन में मुमुक्षुनि मुक्षुनि बहुरता संक्षयानि छई है।

अन मुने मुने उरजान अरौ बिपरी गति छोनि छई है ॥

दास प्रभा उज्जल सब अग सुरग सुवासता फलि गई है ।

चन्द्रमुखी तनु पाइ नवीनो गई तरुनाई भानद मयो है ॥

चन्द्रमुखी के नूतन शरीर को पाकर स्वयं उसका जीवन भानदमय हो उठा है । भानद प्राप्त करना चेतन का लक्षण है, जीवन उसका लाभ नहीं कर सकता है । यही लक्षणा प्रसंग है । इस वाच्याय का व्यग्याय यह है कि जो कोई पुरुष इस चन्द्रमुखी को प्राप्त करेगा उसे परम भानद प्राप्त होगा । इस व्यग्यार्थ को नेवस सहृदय ही समझने में समर्थ होंगे । अतः यह व्यग्यार्थ गूढ़ है । इस सबैया में मम्मट के उदाहरण की छाया है ।

भगूढ व्यग्या का उदाहरण—

यन जीवन इन दुहुन को सोहति रीति सुवेस ।

मुग्ध भरनि मुग्धनि बर, सलित बुद्धि उपदेश ॥

यन मूर्खों की और जीवन कामिनियों को चातुय का उपदेश देता है । 'उपदेश' चेतन गुरु का व्यापार है अर्थात् सिखा देता है । यह भगूढ व्यग्य का उदाहरण है ।

भगूढ व्यग्या का एक अन्य उदाहरण—

केसरि अग से अगनि ने ससिनाथ दुहुलनि की दुति भारी ।

भाल मे रोरो की आइ रचो मुख खीरी भवीर की फेंट महारी ।

लाल प डारि गुलाल की मूढे बिलोकति होति हियें बलिहारी ।

खेलति होरी गुपाल सों आज यो लाज तजै कृपभान कुमारी ॥

यहाँ पर लज्जा के त्याग के कारण प्रीति नायिका व्यग्य है । यह 'व्यय' सबसाधारण बोधगम्य होने से भगूढ़ है ।

शादी व्यजना के पश्चात् आर्थों का प्रसंग उपस्थित होता है । शादी व्यजना में शब्द की व्यञ्जकता रहती है और अर्थों की सहकारिता, आर्थों व्यजना में अर्थों व्यञ्जक होता है, शब्द की अर्थ का आश्रय होने के कारण सहकारिता रहती है । काव्य प्रकाशकार ने वक्तादि के कारण अर्थों की व्यञ्जकता स्वीकार की है । आचार्य मिश्रारी 'दास' ने वक्तादि दशवशिष्टियों का उल्लेख करके उनके परस्पर संयोग से आर्थों व्यजना के अनेक भेदों की ओर संकेत किया है । यह काव्य-प्रकाश में भी प्रच्छन्न रूप में विद्यमान हैं । दास से पहिले किसी अन्य आचार्य ने इन भेदों की ओर संकेत नहीं किया है ।

“इनके मिल मिल किए, भेद अनन्त सखाइ ।”

संस्कृत भाषायों ने आर्थों व्यजना के प्रसंग में अर्थों अभिव्यक्तिके के दश हेतुओं का उल्लेख किया है । वे ये हैं वक्ता, बोधव्य, वाक्य, वाच्य, अर्थ-सन्निधि, देश, काल, चेष्टा, वाकु, और प्रकरण । इन्हीं दश हेतुओं के कारण प्रतिभाशाली व्यक्तियों को व्यग्याय का बोध होता है ।^१ इन्हीं को हिंदी रीतिकालीन आचार्य हरिचरणदास ने निम्न दोहे में एकत्र कर दिया है—

वक्ता अथ बोधव्य पुनि वचन वाच्य अनिसग

वेस काल दस जानिये चेष्टा वाकु प्रसग ।

१ वक्त्रबोधव्य वाकूना वाक्यवाच्यायसन्निधे ।

प्रस्तावदेशकालादेर्वशिष्ट्यात्प्रतिमानुषाम् ॥

योऽर्थस्याप्यधीहेतुव्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

यद्यपि आर्या व्यञ्जना के इन अभिव्यक्ति हेतुओं का सक्षिप्त उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। वहाँ व्यञ्जना व्यापार की अभिधा, लक्षणा तात्पर्या आदि व्यापारों से भिन्न व्यापार सिद्ध करने का उद्देश्य था, यहाँ उनका व्यावहारिक स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से विस्तृत विवरण दिया जा रहा है।

(१) वक्ता—कवि अपनी उक्ति को जिस पात्र के द्वारा बहलवाता है वह वक्ता माना जाता है। वक्ता के कारण भी साधारण वाक्यों से भी कभी कभी अत्यन्त गम्भीर व्यञ्जना होती है। मित्र के मुख से निवृत्त अत्यन्त साधारण वाक्य शत्रु के मुख से निकलकर अपेक्षाकृत विनोय व्यञ्जना करता है।

(२) बोधव्य—कवि निबद्ध-वक्ता का ओता ही बोधव्य है। अभिधामूला शादी व्यञ्जना के प्रसंग में उद्धरण 'भयो अपत क कोप जुत, मे बोधव्य के मालिन होने से ही बोहे से वह व्यञ्जना होती है।

(३) वाक्य—कभी कभी वाक्य का गठन ही इस प्रकार का होता है कि उससे उसके गठन के कारण विशेष अर्थ की व्यञ्जना होती है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द आपातत अनुपयुक्त से प्रतीत होते हैं। वाक्य पर्यालोचना से विशेष अर्थ की व्यञ्जना होने पर उनकी सगति बढती है।

(४) अर्थ सन्निधि—वक्ता के समीप एक निश्चित उद्देश्य से आया हुआ किन्तु बोधव्य को प्रायः अकस्मात् प्राप्त हुआ प्रतीत होने वाला व्यक्ति। वक्ता की उक्ति इसी पात्र की सुनाने के अभिप्राय से कही जाती है। बोधव्य की साधारण प्रतीति होने वाली उक्ति इस वक्ता की सन्निधि समीप्य—में रहने वाले इस व्यक्ति को ही विशेष अर्थ की प्रत्यापक होती है।

(५, ६)—देश और काल भी विनोय अर्थ की अभिव्यक्ति के हेतु हो रहे हैं।

(७) वाक्य—वाक्य का अर्थ प्रयुक्त वाक्य के अर्थ से है। उक्ति में प्रयुक्त वाक्यों का अर्थ ऐसा रहता है कि उससे विनोय अर्थ—व्यञ्जना होती है। वाक्य और वाक्य में स्पष्ट अन्तर है। वाक्य में वाक्य का गठन और प्रयुक्त शब्दों की पर्यालोचना से अर्थ निकलता है। किन्तु वाक्य के प्रसंग में अर्थ से। वाक्य में पाठक का ध्यान भाषा पर रहता है और वाक्य में प्रयुक्त शब्दावली के अर्थ पर।

(८) वाक्कु—कान्कु कण्ठ ध्वनि को कहते हैं। कण्ठ ध्वनि के बदल से कवि की उक्तियों से विशेष अर्थ की प्रतीति होने लगती है। जहाँ कण्ठ ध्वनि मात्र—प्रस्त करने मात्र—से विशेष अर्थ की प्रतीति होती वहाँ ध्वनि मानी जाती है। इस पर विवेक विचार आगे गुणीभूत व्यञ्ज के प्रसंग में किया जायगा।

(९) चेष्टा—अंग विकार, नेत्र संकेत आदि।

(१०) प्रस्ताव—प्रकरण का सम्बन्ध वक्ता और बोधव्य की स्थिति से है। प्रकरण की ही प्रसंग अथवा सन्दर्भ भी कहते हैं। प्रकरण शब्दी और आर्या दोनों व्यञ्जनाओं में विशेष अर्थ का प्रत्यागमन कराता है। गत अध्याय में इस पर विनोय विचार हो चुका है।

इन दश हेतुओं का सक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् उसने उदाहरण आगे दिये जाते हैं। यहाँ हम एक से अधिक उदाहरण देने का प्रयत्न करेंगे। कभी-कभी इन हेतुओं में से एक, दो अथवा तीन तक मिलकर विनोय अर्थ व्यञ्जना में सहायक होते हैं।

वक्ता विशेष से—

देवरी ननव खेल खेलत हैं तिहें सासु
से सिपारो पीहर के मुख शुभ घरी ने।

सरो दुपहरी आखि दुलै आई बाबाजू की,
 पूजा बिन लोअै क्यों निकाम दुख भरी के ।
 सीरी बेर पूल जेते बचैन परोसिनि सों,
 सुकवि रतन बरजै को डर डरी के ॥
 तुम्हें ऐसी होंसहै तो आबोजू हमारे घर,
 फूल फूलि यों ही जात फूल दुपहरी के ॥

वक्ता सभोग की कामना करने वालो व्यभिचारिणी है । घर के उद्यान के साथ प्रात के पुष्पो को तो परोसिन ले जाती हैं दुपहरी के मुरझा कर गिर जाते हैं । घर में इस समय एक वृद्ध बाबा हैं जिनकी आखें दुख रही हैं । तुम नि सकोच दुपहरी के पुष्प लेने आ सकते हो । दुपहरी में सभोग का निष्कटक समय मिल जायगा, व्यग्य है । कवित्त सुंदर है ।

वक्ता वशिष्ठ्य का यह दूसरा उदाहरण है—

कौऊ जो एक कहै तेहि की सुनि एक की चारि बनाय सुनहो ।
 रोस कर ननदो बिन कारण ताहू को बातें सब सुनि सहो ।
 बढक के छत छासो लगे तिनकी तन पीर कहाँ लगि सहो ।
 - होय न अब क्यों सासु उदास प हों तौ कपास के पास न जै हों ।

व्यभिचारिणी नायिका की सखी से उचित है । सखी ने दक्ष स्थल के नलक्षत देख लिये हैं । उन्हें वह कपास बीनने में कपास की बोडो की मुड़ी नोकों से उत्पन्न बताकर छिपाना चाहती है ।

विषेय अध्ययन के लिए छात्र जबतु वशिष्ठ्य से होने वाली व्यंग्यार्थ प्रतीति के उदाहरण दिये जा रहे हैं ।

उपरो घटल डगरी झकुलाइ बबाइ सो याइन सो डीरि हों ।
 भनि श्रीपति बीरय तप्त उठी अब जैहों तो हों उतही सीरि हों ।

इत ऊँची नितेनिन के चढ़ते थम भीति गई आतप ते जी जरि रहों ।
 सपि आकि हों बठि ही एक घरी फिरि सांझ भये पनिया भरि हो ॥

नायिका ने उपपति के साथ चौयरति की है जिसके थम के कारण स्वेद भा गया है और लम्बी सास चल रही है । वक्ता व्यभिचारिणी है वह झूठे कारण बता कर अपनी चौयरति को छिपाना चाहती है ।

प्रतिभारी जल कुभ स आई सदन उतास ।
 सखि थम सतिस, उतास भसि कहा बूझती हास ॥

यह उदाहरण मम्मट के उदाहरण का रूपांतर मात्र है । रूपांतर सुंदर है, व्यंग्यार्थ की पूर्ण रक्षा हुई है ।

झूठत है थोइस थदगी बैन चातुरो सुफूने पाँचो खान जागे देखे मैंन भाग में ।
 फूरत है पफ़न विनित्र चित्र छव देखि उपवन जीव सब होत अनुराग में ।
 बेगि वसि झाँची नभ छाँड़ रही सालो झुमराजी हू विराजी सखि सपति सुहाग में ।
 बिनु ही पसत रवि बत भयमत होत तेरो मुख देखे ते बसंत होत आग में ॥ २ ॥

यहा दूती की उक्ति हो तो परबीया नायिका है और जो समान सखी की उक्ति हो तो रवेल के व्यसन की व्यञ्जना होगी ।

वक्ता के अनुसार ही उक्त उदाहरण का व्यंग्य बदल जायगा । व्याख्या स्पष्ट है ।
विशेष से—

तोहि गई सुनि कूल नलिदि के होंहु गई सुनि हेसि हहारी ।
भूली भवेसी 'कुमार कहूँ डरपी सलि कुजन पज भव्यारी ।
गायर के जल के छलके, घर आवत सौं तन भोजिमो भारी ।
कपत आसनि ये री बिसासिनि ! मेरी उसास रहे न सम्हारी ॥२

यहाँ वक्ता व्यामिचारिणी स्त्री है जो पानी भरने के बहाने प्रच्छन्न कामुख से मिलने यमुना कुंज में गई है यहाँ से लौटने के पश्चात् अपनी सखी से कह रही है । सुरति जय कम्पादि भ्रमजय कम्पादि से छिपाये जा रहे हैं ।

बोद्धव्य विशेष से—

दूबरी भई है येह नीब सौं तजो सनेह हिय मो विरह गहे चिंता अधिकारि है ।
श्रीपति सुजान भनि जतन भनेजन सौं वासर बिहात तो प रातिना बिहाति है ।
हरिये कराहि के सुबहिये परोसिन सौं सहिये परम बुष्ट कछुना बिसाति है ।
हौं हो मव भागिनो हौं बढरो भभाग जानो मेरो दुख देखि आसी अति बिलखाति है ॥२

दूती नायक के पास जाती जाती है । उसके हृदय में भी कामोपभोग आकाक्षा का उदय हो गया है । प्रेम के उदय से जो स्थिति होती है वह दूती की भी हो रही है । नायिका उसकी आकाक्षा को जान गई है । पद्य की अंतिम पंक्ति से यह व्यंग्य स्पष्ट है कि तू मेरे लिये बूट नहीं उठा रही है अपितु अपने ही विरह में दुखी है ।

बोद्धव्य विशेष के ही भागे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

बोद्धव्य विशेष से —

चिंता जम उनदिता यह बरता अलतानि ।
लहो भभागनि हौं अली सहु गहे सुगनि ॥२

यह उदाहरण भी भ्रममट का स्वांतर मान है । नायिका की दूती के प्रति उक्ति है । तूने नायक से रति की है' यह व्यंग्य है ।

सूनी परयो सब नदिर हे बम रनि पवारियो पय सवेरे ।
मेरी रहै इत सेज लखी, उत सोवत सासु सुम गुन देरे ॥
सुम्नत साक्ष बर तुमको न, 'कुमार कहौ यह बात उजरे ।
पधिय भीत' डराति हौं जो कहूँ रात गिरी जिनि ऊपर मेरे ॥

इसमें श्रोता कामातुर पथिक है । 'तुम मेरी शय्या में बैठके आकर सोना यह इससे व्यंग्य है । छंद काव्यप्रकाश के उदाहरण का सुन्दर अनुवाद है ।

मोहित मैं चित दे फिरो सखी निकु जन माहि ।
भए अम अमस्वेदकन लहो सु प्रीतम नाहि ॥

किसी नायिका ने अपनी दूती को नायक के समीप भेजा था । वह नायक के साथ रति प्रीडा करने के पश्चात् लौटी । उससे नायिका की यह उक्ति है । दूती के क्षीर पर उपभोग के

चिह्न हैं। यहाँ 'मो हित भरे वाम के लिए का विपरीत लक्षण से यह अर्थ होगा कि तने मेरा ग्रहित किया है और नायक से समोग करने के पश्चात् अब मुझे दुख देने आई है। तुम्हें लज्जा आनी चाहिये आदि ध्वनि होगी।

जिसको आचाय मम्मट ने वाक्य वैशिष्ट्य स्वीकार किया है उसे आचाय हरिचरण दास ने वचन वैशिष्ट्य स्वीकार किया है। उसके उदाहरण पर मम्मट के उदाहरण की छाया है —

इक टक हग बै स्वच्छ रुचि निरखत है मो हार ।

वहो हार चाहो सम लखत न कहा विचार ॥

नायिका के हार में उसकी सखी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उस समय नायक उसको टक-टकी लगाकर देख रहा था। उसके चले जाने पर उसने नायिका की ओर से दृष्टि भी हटा ली। सखी से प्रेम है मुझसे नहीं, यही ध्वनि है।

वाक्य विशेष का दूसरा उदाहरण—

आई हैं गोधन पूजन बों सब गोकुल गांव की गोप कुमारी ।

ता मे कहा एक सुहरि है अनि धीपति श्री वृषभान कुलारी ।

राखी इत उस नैकन स्वाम खु भेरे कपोलन खोति न हारी ।

हौ तो वहै अब बेई कपोल हैं ह्व गई औरई खोति तहारो ।

यह भी वाक्य प्रकाश के वाक्य वैशिष्ट्य के उदाहरण का छायावाद है। अनुवाद मौलिक जान पड़ता है। वह सरस, सुंदर एवं मम्मट मम्मट है।

वाक्य विशेष के कुछ स्मरण—

पजरत हियो समीर तैं छवै न सकै घनसार ।

सजै कूरि धरि इगनि सै नव अरविंदनु हार ॥

यहाँ वाक्य से ही विरहिणी नायिका व्यंग्य है।

स्यायो मनोरथ पूरन कैं घर स्याह की दुलहि या रति रानी ॥

सामु जिठानि मनद परोसिनि पीरतैं पारधि कैं घर आनी ।

खोति सबै तकि बाकी महावर बाके बिलोचन क मुसुबानी ।

नैन (भोर) सताके ससौहैं बिलोकि के पीछे तिरीछे सुरी मुरझापी ॥

सबैया का प्रतिम वाक्य है कि सभी सपत्निया नवीडा का महावर देखकर प्रसन्न हुईं परन्तु नायक के खलीहें नेत्रों की देखकर मुरझा गईं। जाने वाली बधू अपने स्नेह, जीवन आदि के सहारे हमसे नायक की छीन लेंगी, यह उनके मुरझाने से व्यंग्य है।

मेरे कबल साल तन साल ! लखत हों ईठि ।

हों बह, वे तुम, पै न अब वह सनेह की डोठि ॥

नायक एवं नायिका के समीप नायक की उपपत्नी खड़ी है उसका प्रतिबिम्ब नायिका की प्रारसी में पड़ रहा है। नायक उपपत्नी के धारसीगत प्रतिबिम्ब को स्निग्ध दृष्टि से देख रहा है। उसके चले जाने पर दृष्टि में परिवर्तन आ गया। उसको नायिका ने देख लिया है। इस दोहे में यही प्रयत्न स्नेह व्यंग्य है। यह भी वाक्य प्रकाश के उदाहरण की छाया है। वाक्य प्रकाशकार ने इसमें वाक्य वैशिष्ट्य से व्यंग्य स्वीकार किया है। अर्थ सानिधि से भी व्यंग्य माना जा सकता है।

यहाँ दूती की उक्ति हो तो परकीया नायिका है और जो समान सखी की उक्ति हो तो रवेर के व्यसन की व्यञ्जना होगी ।

वक्ता के अनुसार ही उक्त उदाहरण का व्यंग्य बदल जायगा । व्याख्या स्पष्ट है ।

विशेष से—

सोहि गई सुनि कून कसिदि के हौठु गई सुनि हेसि हहारी ।

भूली अवेसी 'कुमार' कहू डरयो सलि कुजन पज भम्पारी ।

गापर के जल के छसक, घर आवत सौं तन भोजिगो भारी ।

कपत आसनि ये री विसासनि ! मेरी उसास रहे न सम्हारी ॥^२

यहाँ वक्ता व्यामिश्रित स्त्री है जो पानी भरने के बहाने प्रच्छन्न कामुक से मिलने धमुना कुज में गई है वहाँ से लौटने के पश्चात् अपनी सखी से कह रही है । सुरति जय कम्पादि धमजय कम्पादि से छिपाये जा रहे हैं ।

बौद्धग्य विशेष से—

दूधरी भई है बेह भीव सौं सजो सनेह हिय मो विरह गहे चित्ता अधिकाति है ।

श्रीपति सुजान भनि जतन अनेजन सौं बासर बिहात तो प रातिना बिहाति है ।

हरिये कराहि के सुकहिये परोसिन सौं सहिये परम दुष्ट कछुना विसाति है ।

हौं ही मद भागिनी हौं बडरो अभाग जागो मेरो दुख देखि आसी अति बिलखाति है ॥^२

दूती नायक के पास आती जाती है । उसके हृदय में भी कामोपभोग आकांक्षा का उदय हो गया है । प्रेम के उदय से जो स्थिति होती है वह दूती की भी हो रही है । नायिका उसकी आकांक्षा को जान गई है । पद्य की अंतिम पंक्ति से यह व्यंग्य स्पष्ट है कि तू मेरे लिये बूढ़ नहीं उठा रही है अपितु अपने ही विरह में दुखी है ।

बौद्धग्य विशेष के ही आगे कुछ उदाहरण दिय जा रहे हैं—

बौद्धग्य विशेष से—

चित्ता जम अनदिता विह्वलता असतानि ।

सह्यो अभागिनि हौं असी सिंह गहे मुरानि ॥^२

यह उदाहरण भी भ्रमट का रूपांतर मात्र है । नायिका की दूती के प्रति उक्ति है । 'तूने नायक से रति की है यह व्यंग्य है ।

सूनी परयो सब मन्दिर हे बम रैन पधारियो पय सवेरे ।

मेरी रहे इत सेज लखी, उत सोयत सामु सुन जुन टेरे ॥

सुम्नत साज बर तुमको न, 'कुमार' कहो यह बात उजेरे ।

पधिय भीत ! डराति हौं जो कहूँ रात गिरी जिनि ऊपर मेरे ॥

इसमें श्रोता कामातुर पथिक है । 'तुम मेरी खयया में देखके आकर सोना यह इससे व्यंग्य है । छद्म काव्यप्रकाश के उदाहरण का सुन्दर अनुवाद है ।

मोहित मैं चित दे फिरी सखी निकुजन माहि ।

भए भग अमस्वेदकन लह्यो सु प्रीतम नाहि ॥

किसी नायिका ने अपनी दूती को नायक के समीप भेजा था । वह नायक के साथ रति क्रीडा करने के पश्चात् लौटी । उससे नायिका की यह उक्ति है । दूती के शरीर पर उपभोग के

विह है । यहाँ 'मो हित' भरे काम के लिए का विपरीत लक्षणा से यह व्यङ्ग्य होगा कि तने मेरा ग्रहित किया है और नायक से सम्भोग करने के पश्चात् अब मुझे दुख देने आई है । तुम्हें लज्जा प्रानी चाहिये यदि ध्वनि होगी ।

जिसको आचार्य मम्मट ने वाक्य वैशिष्ट्य स्वीकार किया है उसे आचार्य हरिवरण दास ने ध्वन्य वैशिष्ट्य स्वीकार किया है । उसके उदाहरण पर मम्मट के उदाहरण की छाया है —

इक टक हृग वै स्वच्छ रुचि निरखत है मो हार ।

यही हार याही सभै सखस न बहा विचार ॥

नायिका के हार में उसकी सखी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उस समय नायक उसको टक-टकी लगाकर देख रहा था । उसके बले जाने पर उसने नायिका की ओर से दृष्टि भी हटा ली । सखी से प्रेम है मुझमें नहीं, यही ध्वनि है ।

वाक्य विशेष का दूसरा उदाहरण—

आई हैं गोधन पूजन की सब गोकुल गांव की गोप कुमारी ।

ता में बहा एक सुहरि है मनि धोपति श्री वृषभान बुलारी ।

राखी इस उत नैजन स्याम तु मेरे कपोलन धौठि न हारी ।

हौं तो यहै अब बेई कपोल हैं ह्व गई औरई धौठि सिहारा ।

यह भी वाक्य प्रकाश के वाक्य वैशिष्ट्य का उदाहरण का छायानुवाद है । अनुवाद मौलिक जान पड़ता है । यह सरस, सुंदर एवं मम्मट प्रसन्न है ।

वाक्य विशेष के कुछ स्मरण—

पजरत हियो समीर तैं छवि न सकै घनसार ।

सजै दूरि धरि जगनि त नव धरविबनु हार ॥

यहाँ वाक्य से ही विरहिणी नायिका व्यङ्ग्य है ।

स्यायो मनोरथ पुरन क घर ब्याह की दूतहि या रति रानो ॥

सामु जितानि ननद परोसिनि धीरतैं पारधि क घर बानी ।

सौति सभै सखि याकी महावर बाँके बिलोचन क मुसुबपानी ।

नैन (भोर) सलावे सखीहैं बिलोकि के पीछे तिरोछे भुरी मुरझानी ॥

सर्वथा का अंतिम वाक्य है कि सभी सपरिधा नवीढ़ा का महावर देखकर प्रसन्न हुई परंतु नायक के सखीहैं नेत्री की दलवर मुरझा गई । भान वाली बधू अपने स्नेह, जीवन आदि के सहारे हमसे नायक को छीन लेंगी, यह उनके मुरझाने से व्यङ्ग्य है ।

मेरे बचन साल तन साल । सखत हों ईठि ।

हों बह, वे सुम, पैन अब बह सनेह की शीठि ॥

नायक एवं नायिका के समीप नायक की उपपत्ती खड़ी है उसका प्रतिबिम्ब नायिका की आरसी में पड़ रहा है । नायक उपपत्ती के आरसीगत प्रतिबिम्ब की स्निग्ध दृष्टि से देख रहा है । उसके बसे जाने पर दृष्टि में परिवर्तन आ गया । उसकी नायिका न देख लिया है । इस दोहे में यही प्रधान-स्नेह व्यङ्ग्य है । यह भी वाक्य प्रकाश के उदाहरण की छाया है । वाक्य प्रकाशकार ने इसमें वाक्य वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्य स्वीकार किया है । अथ सानिधि स भी व्यङ्ग्य माना जा सकता है ।

मधुर मधुर घातें बहल बयो गहि बंटे मोन ।
मुख की छवि घीरे भई लखी राखरी मोन ॥

नायिका नायक से कहती है कि अभी अभी आप मुझसे मीठी मीठी बातें करते थे । आप एकदम चुप क्यों हो गये, आपके मुख की छवि भी भिन्न हो गई है । इससे आपको किसी अन्य नायिका तथा उसके साथ किये वायदे का स्मरण हो आया है । यह व्यंग्य है ।

अन्य सन्निधि विशेष से—

नाहु नेहु सायो सरस नकुन पारी होइ ।
छूनि पये प्राप्त छिन रहे नौव बस सोइ ॥

नायिका पड़ोसिन से कह रही है । यह द्वीती जो नायक का संदेश लेकर आई है—को सुनाकर कहा जा रहा है । नायक रात्रि भर घर में रहता है और प्रेम के कारण जागता रहता है, केवल प्रातः काल थोड़ी देर के लिये सोता है । इससे यह व्यंग्य है कि मैं उपपत्ति से केवल प्रातः काल ही मिल सकती हूँ ।

अन्य सन्निधि के कुछ अन्य उदाहरण —

गोई अभावस सोम समोई अहं हंगे सोई जिहं सहनो है ।
सासु विभास की बेर तिघारि है सांस सवारि धरयो सहनो है ॥
केतो बियो जनयो मन बसिन बेधर बेधर सो सहनो है ।
बोस इहै न रहैगी परोस की काहि को सुनो हमें सहनो है ॥

जार को समीप जान कर कोई "यन्निवारिणी" अपनी सखी से कहती है कि सास सोमवती स्नान के लिये प्रातः काल चली जायगी, ननद एवं देवर भी न रहेंगे, परोसिनें भी गया स्नान को जायेंगी । कल मैं अकेली रहूँगी । तुम कल आ सकते हो । यह व्यंग्य है ।

अली करेरो हियो मेरी सासु को ओ सिर हो सब भार बियो है ।
पेयत है जग में कवि धीपति जो कष्ट पूरव बीज बयो है ।
साम्भ परे लिन एव लहीं बिसराम इतों बडो काज लयो है ।
कासों कहीं सहिबोई बन रहिबो यहि भाँति को मेरो भयो है ।

नायिका नायक जो समीप ही खड़ा है—को संकेत करती है कि सायकाल ही मिल सकूँगी । यही व्यंग्य है । उदाहरण मम्मट के अनुकूल है ।

सासु ननद सौप्यो सदन कहि करि धर को काज ।
छूटि होइ क होइ नहि सांस समै भुहि आज ॥

इस उदाहरण पर मम्मट का उदाहरण की छाया है । नायिका अपने मुखरों के समीप वर्ती होने के कारण निकट स्थित जार से स्पष्टतः कुछ कहने में असमर्थ संध्याकाल सहेद में मिलने का संकेत कर रही है । यही ध्वनि है ।

दैन्य संक्षिप्त का उदाहरण —

त्याई साल विलोकिये राखी आपु समीप ।
जानौं याहि न और सो जाई सिंहल बोप ॥

यह दूती की नायक के प्रति उक्ति है। यह नायिका जिसको मैं आपके समीप लाई हूँ सिंहल द्वीप में उत्पन्न हुई है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि यह प्रति सुन्दरी है और पद्मिनी है।

देश वंशिष्ट्य के कुछ अर्थ उदाहरण —

हों अपने कर फूल बिछाई हों अचर आरि सुधारि मही को ।
नयक के बिसराम हों केरि जगाइ हों जाइ निसा जगे पी को ।
ल बोज़ और निकुंज में फूलरी बातें सोपर छाँड़ि हों जो को ।
जोरि डुह कर सोहि निहोरत यहाँ त सिधारिबो रावरो नीकी ॥^१

यहाँ पर 'यह एकांतप्रदेश है' अतः तुम यहाँ गुप्त वेषधारी मेरे जार को देखठके चले जाने दो। कोई नायिका अपनी विस्वासपात्र सखी से निवेदन करती है। उदाहरण सरस, एव वीरप्रकाश सम्मत है। इस पर भी काव्य प्रकाश को छाया है।

बारे बडेन कीं घातें चले तिरछीं तकि क तिरछी मुसुक्हीं ।
जये न कंते सिजये मुहें तजि बारो बडेन तो जांचन जहै ॥
साथ परोसिन सँ बरई हरयें हरयें घर हो बिनि भाहैं ।
सासु सुनो सु कपास चुनै हम काढ़के जहैं न बाढ़ चुलहैं ॥

'कपास चुनने के लिये हम किसी के यहाँ न जायेंगे और अपने कपास के लिये न किसी को बुलायेंगे' भादि वन 'सहेट का स्थान है' अर्थ प्रतीत होता है।

यह वृत्तवाचन अति सुलभ बसोबट सुल धाम ।
साल बुधहरी रहि यहाँ चलिहैं भीतें धाम ॥

यह देश एव काल का मिश्रित उदाहरण है।

काल विशेष से—

आपनी बात कहा कहिये मन मोहन जू सबकें समुदाय हो ।
भोचक जागो अभाग को आखर आनप्रिया तुमही पे भिदाय हो ।
जो गुरु लोगन के बसवै कवि श्रीपति प्रणाम बिदेश सिपाय हो ।
राखिबो नीकी तो बोल बडेन को आइ हों तो फिर मोहिन पाइ हो ।

गुरुजनो के आदेशानुसार परदेश गमन के लिये तैयार पति से प्रियतमा कहती है कि यदि आप इस बसन्त ऋतु में प्रवास जाते हैं तो मैं आपके विरह में जी न सकूँगी। आपकी क्या गति होगी उसे मैं नहीं जानती। आप इस समय परदेश न जायें। यह व्यंग्य है। उदाहरण मम्मट के अनुसार है।

काल वंशिष्ट्य के अर्थ उदाहरण—

समय वंशिष्ट्य से—

बरसत हग सरसत सलिल बरसत धिर धन धोर ।
बोलत सुख डोलत अवनि बन बन बोलत भोर ॥

नायिका की विदेश गमन के लिये उत्तर नायक के प्रति उक्ति है। वह वर्षा की ओर नायक का ध्यान आकृष्ट करती है। इससे यह व्यंग्य है कि वर्षा में दूसरे जब घर लौट कर आते हैं, भाप जाने की तैयारी कर रहे हैं। खेद की बात है। इस भ्रवसर पर मत जाइये।

दिन द्रफ़ बड़े घर एठे से रहत जेठ,
कहा करौ तिहँ ते सुख कौन सबाइ हो।
सहज सुभाव जोसु भाव जो सुनेब मान,
ऐसे छेब मेव कसे बासर बिताइ हौं।
याही अटपटे में न पट गहि राखति हौं,
इत बीति है जो बात पाति ही सा पाइ हो।
औधि यदि मधु की सिधारे हो सिधारी प्यारे
मधु में न आइहो तो माघी में तो आइ हौं ॥

‘मधु में इत बीति है’ से ‘मैं आपने वियोग में मर जाऊँगी’ अर्थ ‘यग्य’ है। यह भी कवि का अपना उदाहरण है।

चले ॥ दिसिँ उमझि सुभट समर किलकारि।
हुव विनोद मन में निरखि तिष्य तरल तरवारि ॥

मुट भूमि का वणन है। संग्राम समय में विनोद बढने के वखन से मुट की इच्छा अथवा उत्साह व्यंग्य है।

वैश्व विशिष्ट्य से—

सुखब कुज छाया सघन हरत हिये की ताप।
निरखि दुपहरी जेठ की चलन चहत अथ भाप ॥

सगभोत्सुका नायिका की उक्ति है। जेठ की इस भयंकर दुपहरी में इस सघन कुज से अच्छा स्थान और कहा मिलेगा? आप यही सुरति कीजिये। यह ‘यग’ जेठ की दुपहरी समय की विशेषता के कारण है।

काव्य वैशिष्ट्य के अर्थ उदाहरण—

वाच्य विशेष से—

भौन अघ्यार हूँ चाहि अघ्यारी चबेली के कुज के पुज बने हँ।
बोलन मोर कर पिक सोर जहा तहाँ गुजत भोर घने हँ ॥
दास रच्यो अपने ही विलास को मन जू हायनि सों अपने हँ।
कूल कलंदजा के सुखमूल लतानि के वृष वितान तने हँ ॥

यह ‘दास’ का अपना उदाहरण है। इस सवये में एकांत प्रकृति का रम्य चित्रण है। प्रकृति का यह वखन नायक द्वारा नायिका के प्रति अथवा नायिका द्वारा नायक के प्रति किया गया है। इससे इस स्थान में विहार को इच्छा व्यंग्य है।

चक्षता चपल चाहूँ चमकत चारों ओर,
भूमि भूमि धुसा घरनि परसत है।

सीतल समीर सग दुखद वियोगिन को,
सद्योगिनि समाज सख साज सरसत है।

कहे परताप प्रति निविड भ्रंशर मेह
मारग चलत नहि तम दरसत है ।
भुमदि भलानि चहुँ कादते उमदि भ्रात्रु,
पराधर धारन अपार बरसन है ॥

इसकी व्याख्या में आचार्य ने लिखा है 'इहा मुरति सभोग की व्यंग्य सी मित्र सम बताय क कहत है तात सुनया क विगेष से 'यग्य ।' यहाँ धाता की विशिष्टता से सभोग व्यंग्य मानने पर धाता अभिचारिणी स्त्री होगी । इस छंद में वर्णों का सुन्दर चित्रण है । यह वाच्य वशिष्ट्य का सगत उदाहरण है ।

लपटि रही है सता तवन तमालन सों,
बिटप बिगासन प्रभाव दरसत है ।
सीतल सुखद छाह होतल हरनहार,
सीतल समोरन सनेह सरसत है ।
कहे 'परताप' बल कुमुम कवचन ते,
झरि भरि अबनि पराग परसत है ।
उमगि प्रमोद चहुँ कोद तें अघिब भ्रात्रु,
धारे धन बोधिन बिनोद बरसत है ।

सभोग के लिये उत्सुकमना किसी कामिनी को एकान्त में नायक से चर्चि है । 'लपटि रही सता तवन तमालन सों' आदि के कहने से सभोग की इच्छा व्यंग्य है ।

वाच्याय विगेष से—

बदनो धन सुन्दर सीतल छाहर ओपति मोमन मोद भरी ।
जमुना तट तें सोई कुज बनौ तल्लि कैं गृह जाज सब बिसरी ।
भ्रात्रु तनिय सोरी बगारो बहो मकरदन कजन पुज धरो ।
दिन कान अछानक काम भहीपति तानि सरासन कोप करो ॥

यह भी काव्य प्रकाश क वा १ वशिष्ट्य व्यंग्य के उदाहरण का सुन्दर अनुवाद है । कुजो की प्राञ्जल मधनता, सु दरता, स्थान की एका नता एवं समय की मनोमोहकता कामोद्दीपन के लिये यथेष्ट हैं । मुरत के लिये इस कुज में प्रवेश किया जाय, यह व्यंग्य है ।

वाच्याय विगेष के अर्थ उदाहरण—

बाजार सो बरस धन बाजार से परसे ते वियोधन पाये ।
धोर घुमार सुमार कर भौ घुमार खरो रसकों उपजाव ॥
दाबुर सोर भरीर बगारि के लो वन और तें भोर सताव ।
साथ जवदय के दिन की यहि राति को भोर भइसरि भाव ॥

वर्णों का वचन कामुन अथवा उसकी दूती द्वारा है । वादल से राजल छेरे की वर्णों, काम की पीडा द दुख का धोर, हवा के भौंके, मन्गो का शोर आदि है । इन समय सभोग का प्रवसर है । छंद के अर्थ से ही यह व्यंग्य है ।

काकु विशेष स—

दुबम दुसासन महीपति सभा मे गह्रौ द्रुपत सुता को घोर जग हाहासात भो ।
व्याघन के साथ करयो वन मे निवास भयो वद भूल असन वसन तरुपात भो ।
श्रीपति भनित जाय रहे हैं विराट मेह जिहि दिन दिन अनुचित अधिकात भो ।
तापर तहत मया करि क सुयोधन पै धरम स्वरूप राजा मोपर रिसात भो ॥

वेणी सहार नाटक मे भीम की सहदेव के प्रति उक्ति है । उसी का यह ध्यायानुवाद है । मम्मट ने काव्य प्रकाश मे भी काकु का यहो उदाहरण दिया है । जब भीम ने युधिष्ठिर को अनुसाहित देखकर उलाहना लिया तो सहदेव ने भीम से उलाहना न देने के लिये प्रार्थना की क्याकि युधिष्ठिर बिड़ जायेंगे । उस समय भीम ने सहदेव से कहा कि भाई मुझसे जरा सी बात पर बिड़ जायेंगे, कौरवों पर इतने अत्याचार करने पर भी न बिड़ । यदि क्रोध करेंगे तो मेरे ऊपर क्रोध करना अनुचित है । यह व्यंग्य । ध्यायानुवाद सुन्दर है । काकु की विध्वान्ति प्रथमार्ध स ही हो जाती है ।

विशेष अध्ययन के लिये काकु के उदाहरण—

छाड़ समीर उलोर से बारहि बार मुरारि निकाम भुतो ।
जाति जरीरी मरीरी इहे रटि सोवन बोहीं न प्रायु सुती ।
राति व कोलि अकोलि भई अब ऐसिहैं मौसी कि सीनि धुती ।
वयो हौं लली लुलसाहि बुलावन हों हो न गई तुम यों ही हूती ।

क्यों लाल को बुलाने मैं ही न गई ? अर्थात् मैं ही प्रकली गई थी । यह कव्य स्वेद प्रादि सभोग्यजय नहीं अपितु मागमय एव गमन अम जाय है, आनि अय यय है ।

गोकुल भाज गई दधि बेचन बालि सब मिलि कैं विकु जानहि ।
प्रायो अचानक बोरि कहीं ते गुपाल रहा लियें सग सखानहि ।
आनि ते पट घूँघट टारि सुटाय भद्र घटतें कुल जानिह ।
बोन बिगड़ गई बिन मोल बिलोकति मोहन को सुतिबरनहि ॥

यहा 'को न बिकाइ गइ प्रश्न से ही अर्थ की प्रतीति हो जाने से काकु की विध्वान्ति हो जाती है । इसलिये आर्या व्यञ्जना का सुन्दर उदाहरण है ।

इम सखि हूं मधु खड्गिका, सुनि हूं कल धुनि कान ।
रहि हूं मेरे प्राण तन प्रीतम करो पयाव ॥

'रति है मेरे प्राण तन काकु से यह अर्थ निकलता है कि आपके प्रयाण करते हो मैं मर जाऊँगी । इससे व्यंग्यार्थ यह हुआ कि 'आप परदेश न जाय ।

आगे चैष्टावैशिष्ट्य से प्रकट होने वाले व्यंग्य के उदाहरण हैं—

हरि ललचोहैं चखनि त देखी तिय सुख भूल ।
प्रात धतुर जल में दियो वधु जीव को भूल ॥^१

नायिका को नायक ने लालच भरी दृष्टि से देखा तो नायिका ने दुपहरिया का पुण्य दिखाया । इससे यह ध्वनि कि मैं आपसे दुपहरी म वन में मिलूँगी ।

चेष्टा का लक्षण यह है —

श्रीर भय जो समुन्नाव । चेष्टा ऐसी क्रिया कहावै ।
हैं यद्धरान चराइवे कों तित गी जित हो वृषभान का द्वारो ।
जप मिलाइ सई भुज मेलि सको वितक भर धन बिसा ।
श्रीपति जू मनि नन नचाइ क तोख चसाइ कटाछ कटारों ।
सोसतैं खचि तियों पट धूँघट के मुच खर रसोंत उज्ज्वारो ॥

नायिका ने उपपत्ति के सम्मुख आने पर अनेक चेष्टाओं से अपनी कामोपमोग की आकांक्षा व्यक्त की । इसका विवेक उल्लेख दिवतीय अध्याय में आर्या व्यंजना के प्रसंग में चेष्टा के उदाहरण में हो चुका है ।

कसिबे मिस नोबिन के छिन सौ भग भगनिदास विलाइ रही ।
अपने ही भुमानि उराजनि बो गहि जानु सों जानु मिलाइ रही ।
सलचोहैं सजोहैं हँसोहैं चित हित सों चित चाह बडाई रही ।
कनसा करिक पगु सो परिख पुनि सूने निकेत में जाइ रही ॥

इस उदाहरण पर भी काव्य प्रकाश की छाया है । उदाहरण सु दर एव मौलिक सा है । यहाँ चेष्टाओं से समोग के लिए नायक का बुलाना 'यम्य' है ।

अपक मात मली हियें सखी सामु हैं स्वाम ।
निरखि प्यारि हू हरति हसिउर बूँदी बर दाम ॥

नायक ने नायिका को सम्मुख देखकर अपक माता को हृदय से मलकर गाठ घालि गन का सहेत किया । नायिका ने भी नायक के सत को समझ कर हसकर हार को हृदय में दबा लिया । इससे अपने अनुराग का नकेत करके अवसर पर मिलने का वायदा किया ।

प्रसंग वैशिष्ट्य का उदाहरण —

सुखो पीय तो आय है सजनी याही बार ।
ओ करनी सो बीजिये अब क्यों करति अवार ॥

प्राचाम मम्मट ने प्रसंग के लिये प्रकरण शब्द का प्रयोग किया है । यह दोहा मम्मट के उदाहरण की छाया है । यदि यह दोहा परकीया के प्रसंग में कहा गया है तो यह ध्वनि कि जब प्रिय नायिकायें अपने उपपत्तियों से मिलने गई हैं तू भी अपने उपपत्ति से मिलने के लिये जा और पनि स्वकीया का प्रसंग हो तो यह ध्वनि कि तू गृह काय पूरा कर और गृहवार आदि कर ।

आचार्य ने यहाँ पर प्रसंग और प्रिय सनिधि का अन्तर स्पष्ट किया है । प्रिय सनिधि में बोध्य बाधक भाव होता है जिसको समीप जान कर बात कही जाती है वह बोध्य है और वक्ता है बाधक । श्रोता तो बहाना मात्र होता है । इसके विपरीत प्रसंग में श्रोता मुख्य होता है, वही बोध्य होता है । जिसके सम्बन्ध में प्रसंग होता है उससे छिपा कर बात कही जाती है ।

विवेक अध्ययन के लिए प्रस्ताव वैशिष्ट्य से अध्ययन के प्रिय उदाहरण दिये जा रहे हैं—
प्रस्ताव विवेक से—

राज करो बलि राज करी मनि, आजु हूसे बिन जाति न यारी ।
सामु रिताति निसी सरसाति, तुम्हें बहुत काज करवे न ब्यारी ॥

मिश्रित हनुमा से प्रकट होन वाले व्याख्यान के अर्थ उदाहरण—

भारे भरोसे धरो रह साम्ग लों, साम्गको और तो भोर लों ध्यावति ।
तेरे तो चीरन नीर को औरो, कटोरो भरे लों धडो ढरकावति ॥
ऐसे उदार को दूसरो दार जो भोसर आपने औसरी सावति ।
नागरि तू भुन आगरि नागरि धूप ही मे यहि कूपहि पावति ॥

अंतरंग सखी दुपहरी मे नायक से नायिका के मिलाने का वायदा करके भाई है । नायिका को सखिया में उपस्थित देखकर उस नायक से दुपहरी में मिलने का स्मरण दिला रही है । यहाँ वक्ता, बोद्धव्य आदि का सदाह अर्थ व्यजकता का हनु है ।

इहि सज्जा अज्जा रहै, इहि हौं चाहतु सन ।
हे । एतौंघिहे बात यह, सैन सम भूलै न ॥

यह दोहा मन्त्र का अनुवाद है । प्रोपितपतिका व्यभिचारिणी स्वयं दूती बनकर कामानुरोधक स कल रहा है । 'राजि को मरा शय्या में आकर सोना' व्याख्यान का प्रतीति हो रही है । यहाँ वक्ता और बोद्धव्य दोनों हनुओं का समुदाय है ।

अर्थ तीन प्रकार का होना है ? वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य । इन तीनों अर्थों से पुन व्यंग्य प्रतीति होती है । इनके अर्थ उदाहरण आगे दिय जाते हैं ।

वाच्य की व्यजकता का उदाहरण—

पहिले सुनि यात परीतिनि की कहिबोई करी कब देखी नई ।
सुसदेगनि नेह बडाई कुलाइ हतो जब पाहुनी देखी नई ।
लखि लाल के लोचन लाज कछू भब लौ तन की गति और भई
तिय चार बिचार जुते मन फार पिय मुख हेरि उसास लई ।

यहाँ लोचन लाज' पद से नायक की आसक्ति जानकर उसास ली इससे नायिका का दुःख व्यंग्य है ।

वाच्य की व्यजकता के कुछ और उदाहरण दिय जाते हैं—

छिन छिन ओछा होति कटि छुनी चपलता भान ।
चतुराई बॅननि बसो नन लगे तिरछान ॥

यह भा सु दर उदाहरण है । नायिका जीवन में प्रवेश कर रही है । व्याख्या की प्रतीति दाह व वाच्यार्थ स हाती है ।

बुझत तोहि न बुझत और पजौ प तुही मति की समुदाय है ।
पादन पूर्व बिनती बति टालनि जानि प्रवीन महा मेरी घाय है ।
भोर हो फाज करी घर की भनि ओषति जो कछु याको उपाय है ।
का रह को ध्योस गयो मुख सो भव आनु की बार तो कस बिताय है ।

व्यभिचारिणी अपनी घाय से प्रार्थना करती है कि घर का काय दीप्त समाप्त कर लिया जाय जिससे स या म विधाम का अवकाश मिल जाय फलत उस अवकाश में पति से मुख पुनः विहार किया जा सके । इसमें वाच्य प्रकाश व उदाहरण की छाया सी है । यहाँ वाच्य अर्थ स ही व्यजना होनी है ।

कहि दीजे हम सौति सों काज जित घर माहि ।
करि लीज याही घरो दिवस रहे फिर नाहि ॥

नायिका की अंतरंग सखी के प्रति उक्ति है । मैं दिवस में ही अपने सभी काम समाप्त कर लेना चाहती हूँ जिससे रात्रि में निश्चय होकर प्रिय से मिल सकूँ । यह व्यंग्य वाच्य अर्थ से ही निकलता है ।

अब र सघन घन बरषत मन हरषत मन हेरत हरित छवि छाई है ।
महमहे कुज लहसहे बेसि पुज अंसि पर मनु गुज पिक बोलनि सुहाई है ।
भूरि रहे बस जस पुहनी न हस चल पावस प्रबल यह बेर बनि छाई है ।
मोरन की धोर छाये सुनिये न सौर आशु बिधि हरि मोरन को भाग की बनाई है ॥

उक्त उदाहरण में लक्षणा का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है । वाच्य से ही एकांत एक निजन स्थान और कामोद्दीपक समय व्यंग्य है । इस व्यंग्य से सुरति की विनयी व्यंग्य है ।

प्रेम मदमाते बिन जोहा पिक जोहा जोर,
बोलत पयोहा मोरवान मुख भूमि भूमि ।
संसिये भङ्गोरन चलत पुरवाई इहै
पुरवा घुरारै छिति छोरन लो भूमि भूमि ॥
कहे परताप घोर घटा घहराती बिजु
छटा छहराती लहराती लता भूमि भूमि ।
भुमडि ललान ज्ञाने जस सौं जमकि भुकि
भूपि भवि सघन घन भूमि भूमि ॥

यहाँ वाच्य से वर्षा का समय प्रतीत होता है और उससे भोग की इच्छा प्रतीत होती है ।

लक्षणा से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है । लक्षणा के प्रसंग में प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से होती है । किन्तु कहीं कहीं लक्ष्यार्थ पुनः व्यंग्यार्थ की प्रतीति का हेतु बन जाता है । लक्ष्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण —

प्रेम को पाठ पढ़ी है तुही यह कोठन जानत प्रेम प्रबीनी ।
धीपति आबत जात चकानहि मोल हमे बिन दामन लोनी ॥
तेरी सो तो सो न और हितु बहु दीखी पौं मोहि कहा मुख दीनी ।
मेरी महा लखि बेदन कीं सखि आपन बेह निवेदन कीटा ॥

नायिका ने दूती को नायक के समीप उसको बुलाने भेजा । नायक ने दूती के साथ भोग कर लिया । दूती के लौटने पर उसके शरीर लक्षणा से नायिका को पता चल गया कि नायक ने इसके साथ रमण किया है । नायक के इस कथन से सखि 'तूने मेरी वेदना को दूर करने के लिये अपने देह दे डाली' से विपरीत लक्षणा से यह व्यंग्य निकला कि नायक ने तेरे साथ रमण करके मेरे प्रति अपराध किया है । तुम दोनों ने मुझे दुख दिया है ।

लक्षणा की व्यञ्जकता के कुछ अन्य उदाहरण—

सीतल होत हियो सुनत कहत बात तुनरात ।
सालनु भले भले बदन छाड़ दिसायो प्रात ॥

नायिका धीमती है। नायक का यत्र रात्रि बिता कर प्रातः काल उपस्थित हुआ है। इसलिये 'हिमो सीतल होत' से विपरीत लक्षणों द्वारा' में आपके व्यवहार से अत्यन्त दुखी ॥ व्यंग्य निरलता है।

तोसों कौन हितु धरो भरी धरी निज काज।
मेरे हित निज अंग मे सहै नख-खत आन ॥५

नायक से सदा उपमुक्त सखी से नायिका की उक्ति है। उस पर-उत्थत आदि नभोग बिह प्रकट हो रहे हैं। उनको देखकर नायिका कहती है। विपरीत लक्षणों से 'तून मपराय किया है आनि' व्यंग्य है।

सखर सदा सुनति हों सुजस बहयो सुभ सर।
सुजस बसे लकापुरी पिय रघुवर के घर ॥

यह मदादारी की राखण से प्रति उक्ति है। विपरीत लक्षणों से यह व्यंग्य की लक्ष्य उजाड़ हागी।

भली करो नैद - भद सुम रये कूयरी रग।
बहिषी ऊषी नित हमें होति बिरह सों जग ॥

विरहिणी गोपी उल्लव ॥ कह रही हैं। महा 'भली करो' से यह व्यंग्य है कि 'आपने अच्छा नहीं किया'। जब से आप कूयरी से प्रेम करने लग हैं तब से हम आपके बिरह में अत्यन्त दुखी हैं। पर तु यह व्यंग्य विपरीत लक्षणों से निरलता है, इसलिये यह लक्ष्यार्थ का उदाहरण है। साहित्य दणकार और काव्य प्रकाशकार ने भी इस प्रसंग में विपरीत लक्षणों के ही उदाहरण दिए हैं।

व्यंग्य पुन व्यङ्ग्य हो जाता है। व्यंग्यार्थ की व्यङ्ग्यता का उदाहरण—

तुग तमाल की छाँह धनी जह सूरज हू नहि ताव करी है।
सारस हसन कूजत जह देवन की मन मोद भरी है।
श्रीपति जू मलिनी दल में बक - बाल अचचल मछोभ भरी है।
मानो सिंगार क भाजन पर रतिनायक सुंदर सख धरी है।

इस उदाहरण पर काव्य प्रकाश की छाया है। नायिका नायक के साथ एकान्त प्रवेश में पहुँच गई है। वह नायक की अपनी आंतरिक कामना व्यक्त करना चाहती है। वह कहती है, चारों ओर तमाल वृक्षा की सत्तापहारी छाया है और मन में मोद बढ़ाने बाल सारस और हंस कूज रहे हैं। इससे स्थान विहार योग्य प्रतीत होता है। कमलिनी पत्र पर बक बाल अचचल बठा है जिससे स्थान की निजन्ता प्रकट होती है। यह व्यंग्य से व्यंग्यार्थ प्रतीति का सुंदर उदाहरण है। छंद मौलिक सा प्रतीत होता है।

व्यंग्य व्यङ्ग्यता के कुछ अन्य उदाहरण—

सोहि रही सरिता चहू ओर तें आध लुख तें बुझें तिहि माँहो।
दीप्त न फोख सो गाऊ चहु बिनि कति बिहग कर चित चाहो।
मारग भूलि तु आये भले हो मिसो तुम भाग अकेलो इहा हो।
देखि रे पयिक यावत बीच सु आबु की शीघ्रम शीघ्रम नाहो।

उपयुक्त वर्णन से एकांत और निजनता है। इस योग्य से 'इस मनोरम, सुगंध एत एकांत निजन स्थान में मेरे साथ सुखपूर्वक भोग करो' नायिका की इच्छा व्यक्त है। यह उपाहरण कवित्वपूर्ण एवं सगत है।

कुण्डल मुकुट कटि काछनी तिलक भाल ।
 सोमनाथ कहै मद गवन मनोहरा ।
 पारिये रो । कोरि मनमय की निकाई देखि,
 भकुटी नचाव रो रचाव जित मोहरा ।
 बड़े बड़े मैं पुनि सावरे बरन घर
 लोगनि को सगर सुभावे पडि दोहरा ।
 आष नित मुरली बजावे तान गावै यह,
 छरहरौ कौन को छवीली छल छाहरा ॥

इसमें वृत्ति के बंधन की भांति अपरिचय योग्य और पुनः उस व्यंग्याप से भी परिचय करने की इच्छा प्रयत्न मिलने की इच्छा व्यक्त है।

निश्चल विसनी-पत्र पर, उत बलात् इहि भाति ।
 मरकत भाजन घर मनौ, प्रमत्त सुख सुभ जाति ॥

नायक और नायिका एकांत प्रदेश में पहुँचते हैं ता नायिका नायक से कहती है। बलाका का विसनी पत्र पर निश्चल बैठना उसके आश्वस्त होने का सूचक है और इससे वह स्थान निर्जन और एकांत है फलतः सुख सहित है, यह व्यंग्याप है। प्रयत्न तुम इधर नहीं जाय यदि इधर जाते तो यह बलाका इस प्रकार निश्चल बैठे होती तुमने वायने का पावन नहीं किया यदि व्यंग्याप की प्रतीति भी होगी है।



२—ध्वनि-काव्य

यहाँ तक ध्वनि के किस व्यावहारिक रूप का उल्लेख हुआ जो करण प्रधान अर्थ अथवा व्यञ्जना-व्यापार माना जाता है। ध्वनि का एक अर्थ अघिकरण प्रधान भी होता है और इस अर्थ ध्वनि शब्द से प्रमुखतया काव्य का ग्रहण किया जाता है। ध्वनि कार ने उसका लक्षण निम्न-लिखित शब्दों में किया है। जहाँ अर्थ अथवा शब्द अपने को अप्रधान करके उस अर्थ (व्यंग्य) को अभिव्यञ्जन करते हैं इस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि कहते हैं।^१

इस लक्षण में ध्वनि के दोनों ही प्रधान रूपों का उल्लेख है। (१) शब्द अर्थ और (२) व्यंग्य अर्थ भुक्त काव्य। व्यंग्य अर्थ के प्रति व्यञ्जक वा द और शब्द गीण हो जाते हैं। वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य में जय आरता और प्रधानता होती है उस समय उससे युक्त काव्य ध्वनि कहलाता है। परन्तु वस्तुतः वही व्यंग्य ध्वनि माना जायगा जो वाच्य का अपेक्षा प्रधान और समकार युक्त होगा, वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य में सदा प्रधानता रहती है क्योंकि वक्ता का बोधक के प्रति यही अभीष्टार्थ है। इस प्राचाय का एक आधार व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ की अपेक्षा वास्तव युक्त होना भी है।^२ साहित्य-रचणकार के लक्षण में ध्वनि पद का प्रयोग व्यंग्यार्थ का बोधक है और काव्यप्रकाश के लक्षण में काव्य का। काव्यप्रकाशकार ने अपने लक्षण की वृत्ति में स्पष्ट करते हुए लिखा है, “लक्षण, मे जो इदम् पद है वह काव्य का बोधक है। ध्वन्यालोककार के परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं दोनों अर्थों में से किसी एक को प्रधानता दी है। अर्थात् आचार्यों का एक वर्ग काव्य को प्रधानता देकर, वक्ता तो दूसरा व्यंग्य अर्थ को। मम्मट काव्य की प्रधानता देने वाले आचार्य हैं और विश्वनाथ व्यंग्य अर्थ को प्रधानता देने वाले। जैसा पहले कहा जा चुका है व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान अथवा प्रमुख होता है। व्यंग्यार्थ का प्राचाय दोनों वर्गों के आचार्यों को माय है। इसकी प्रधानता तो काव्यस्मात्मा ध्वनि।^३ कहने वाले आचार्य से लेकर व्यतिशानावरणा चित् स्वीकार करने वाले आचार्य तक ने स्वीकार की है। काव्य की उत्तमता और अथमता इसी अर्थ के ‘यूनाधिक समावेश अथवा उससे वाशवावास्तव पर निर्भर करती है। प्राय आचार्यों ने काव्य का विभाजन इसी व्यंग्यार्थ के आधार पर किया है। यह अर्थ ही नाट्य के विभाजन की प्रमुख वसोटी है।

ध्वनिकार ने व्यंग्य की प्रधानता अथवा अप्रधानता की दृष्टि से काव्य के मुख्य दो भेद किये हैं।

प्रधानगुणभावाभ्या व्यंग्यस्यैव व्यवस्थिते ।

काव्ये उभे ।^४

१ ध्वन्यालोक १/१३

२ इदमुत्तमतिशयिनि व्यंग्ये वा यादध्वनिबुध नयित । का० प्र० १/२

३ ध्वन्यालोक १/१

४ रसमगाधर

५ ध्वन्यालोक ३/४२

जहाँ काव्य में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ 'ध्वनि' नामक काव्य स्वीकार किया जाता है और जहाँ व्यंग्य अर्थ अग्रधानता प्राप्त कर लेता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यमे काव्य माना जाता है।^१ उदारचेता आचार्य ने जब यह देखा कि ध्वनि जैसे विस्तृत क्षेत्र के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी कुछ काव्याभिधायी बाह्यमय बच जाता है। जो व्यंग्य आशय की प्रधानता और अग्रधानता वाले उपर्युक्त दोनों काव्यों की कौटि में सम्मिलित नहीं किया जा सकता तो उन्होंने काव्य के तीसरे भेद चित्र को भी मान्यता दी —

“उसके (ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के) अतिरिक्त जो अर्थ काव्य है उसको चित्र काव्य कहते हैं।”^२

उन्होंने अपनी चित्र-काव्य सम्बन्धी भाष्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है। “उन (ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य) दोनों से निम्न रस, भाव आदि तात्पर्य से रहित, और व्यंग्यार्थ विग्रेय के प्रकाशन की शक्ति से रहित, केवल वाच्यवाचक (अर्थ और शब्द) के वचिष्य के आधार पर निर्मित जो काव्य आलेख्य (चित्र) के समान (सांख्यिक रूप रहित प्रतिवृत्तिमान) प्रतीत होता है उसको चित्र-काव्य कहते हैं। यह मुख्य रूप से काव्य नहीं है अपितु काव्य की अनुवृत्ति मात्र है। इनमें से कुछ शब्द चित्र होते हैं जैसे दुष्कर यमक आदि और कुछ अर्थ चित्र जो शब्द चित्र से निम्न, व्यंग्य सत्पन्ना रहित, रसादि तात्पर्य से धूय, प्रधान वाच्यार्थ रूप से स्थित उपप्रेक्षा आदि होती हैं।”^३

ध्वनिकार ने चित्र काव्य को 'व्यंग्य सत्पन्ना रहित, स्वीकार किया था। काव्य प्रकाशकार की भी चित्रकाव्य के सम्बन्ध में यही भाष्यता रही।^४ व्यंग्य की घोड़ी बहुत स्थिति तो सबन सिद्ध की जा सकती है। इसी समावना के कारण ही भामह ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में स्वीकार किया था कि इसके बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता। इस समावना को स्वीकार करते हुए ध्वनिकार ने कहा था “दीपक और समासोक्ति आदि के समान अर्थ अलंकार भी प्रायः व्यंग्य—अर्थ अलंकार अथवा अर्थ वस्तु के अर्थों से युक्त दिखाई देने हैं।”^५ ध्वनिकार के वचनों में पदों

१ व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनि समित काव्य प्रकार गुणभावे तु गुणीभूत व्यंग्यता । व्यंग्या० वृत्ति, पृ० २७३

२ ध्वन्यालोचन, ३४२

३ ततोऽप्यहरसतत्पन्ना रहित व्यंग्याथ विग्रेय प्रकाशन शक्ति धूय च काव्य अथवा वाच्य वाचक वचिष्य मात्रा ध्वनेणोपनिबद्धमाशये प्रत्य मदाभासते लक्षितम् । न तस्मिन् कस्याम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । “उपप्रेक्षादि । व्यंग्या०, पृ० २७३ हिंदी टीका विवेकवर, पृ० ४१६

४ का० प्र०, ११४

५ (अ) तथाहि दीपक समासो छयादिबद्धयेऽप्यलंकार प्रायेण व्यंग्यालंकारात्तर आशयान्न सत्पन्ना न ह्यन्ते । व्यंग्या०, पृ० २५६

(ब) व्यंग्यालोचन, पृ० २६३ नवयानासयेव सहस्य हृदय हारिण्य काव्यस्य च प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थ सत्पन्नं यौमाव्यम् ।

व्याघात दोष का सा आभास होता है। इस आभास की समाहित स्थिति को समवेयवादी आचार्य मम्मट ने अपने अव्ययम् पद को वृत्ति में स्फुट प्रतीयमानार्थरहितम्^१ से स्पष्ट कर दिया था। कहने का तात्पर्य यह कि ध्वनि काव्य और गुणीभूत काव्य में प्रतीयमान अथ स्फुट रूप में विद्यमान होता है। 'अस्फुट' नामक गुणीभूत व्यय काव्य ने प्रसंग में भी व्यय समावेश चित्र काव्य की अपेक्षा स्फुट तर होता है।

ध्वनिकार ने चित्र काव्य के दो भेद—शब्द चित्र और वाच्य चित्र अवश्य किये थे।^२ परन्तु दोनों को काव्य का एक भेद ही माना। काव्यप्रकाशकार ने भी इसको मायता दी।^३ परन्तु पण्डित राज ने शब्द चित्र और अथ चित्र दोनों भेदों का समावेश एक ही अथम कोटि में अनुचित माना।^४ कारण वाच्य, चित्र शब्द चित्र की अपेक्षा उत्कृष्ट है। यद्यपि पण्डितराज के कथन में भी चित्र है परन्तु ध्वनि के आधार पर अथम भेद कल्पना करना विशेष समीचीन नहीं जान पड़ता। इस दृष्टि से दोनों भेदों को एक ही चित्र कोटि में रखना युक्ति युक्त है। यदि अमरकार के आधार पर भेद किये जाते तो पण्डितराज की मायता ठीक होती। जहाँ व्यय अमरकार युक्त एव प्रधान वहाँ उत्तम जहाँ वाच्यार्थ कोटि का अथवा उसका अथ व्यय वहाँ मध्यम और जहाँ केवल व्यय सदाश मात्र चित्र काव्य माना गया। डा० भोलानाथ ने पण्डित राज का मत मान्य ठहराया है।^५ रस के आधार पर काव्य के भेद स्वीकार करने वाले आचार्य विद्यानाथ ने चित्र काव्य को काव्य की कोटि से निकाल कर बाहर फेंक दिया उन्होंने ध्वनिकार के 'अथ काव्ये' को ही ध्वनिकार की यथाथ स्वीकृति माना। मम्मट की मायता की भालोचना करते हुए उन्होंने लिखा 'बोई विद्वान् चित्र नामक का तीसरा भेद भी मानते हैं। यह ठीक नहीं। अथवा पद से यदि यह तात्पर्य है कि व्ययार्थ से एकदम छूट हो' तब तो वह काव्य ही नहीं हो सकता, और यदि कुछ अथ में 'अथ वा प्रयोग मानकर अथय्य पद का अथ 'ईपदव्यय' माना जाय तो प्रत्यय यह है कि क्या आत्माद्य वस्तु के बोधे व्यय होने पर 'ईपद व्ययत्व' विवक्षित है अथवा अनात्माद्य वस्तु के बोधे व्यय होने पर यदि पड़ता पक्ष मानो तब पहिले दो भेदों (ध्वनि और गुणीभूतव्यय) में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है, और यदि दूसरा पक्ष मानो तो वह काव्य ही नहीं हो सकता। क्योंकि आत्माद्यवत्त्व ही काव्य होता है।^६

इसमें कोई भी देह नहीं कि अमरकारवादियों एव ध्वनिवादियों द्वारा अमरकारों के उदाहरण

१ का० प्र०, १/४

२ ध्वन्या, ३/४३

३ का० पृ०, १/४

४ रसगंगाधर, पृ० २४

५ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत पृ० ३३६

६ के चिन्चिन्नाख्य तृतीय भाष्यभेदमिच्छति। तत्र। यदि हि अव्ययत्वेन व्यय्य भावस्तदा तस्य कायत्वमपि नास्तीति। ईपदव्ययत्वमिति चेत्, किनामेपद व्ययत्वम्, आत्माद्यव्ययत्वम्, अनात्माद्य व्ययत्व वा। आद्ये प्राचीन भेदयोरेवात पात। द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। आत्माद्यवत्त्व काव्यत्वम्। साहित्यदर्पण विमला टीका, पृ० २१५ २१६

स्वरूप प्रस्तुत छाने की परीक्षा की जाय तो काव्य सौंदर्य की दृष्टि से उन्हें मम्मट के शब्दों में चित्र भयवा भयम (धवर) काव्य और पण्डितराज के शब्दों में मध्यम कहा समीचीन प्रतीत नहीं होता । ये सभी गुणीभूत व्यंग्य काव्य के स भेदों में से किसी न किसी भेद में समाविष्ट हो सकते हैं ।^१ इस प्रकार भयम काव्य का क्षेत्र गण्य ही रह जाता है और विद्वनाय का वयन श्रुतिपूर्ण होते हुए भी बहुत भ्रमगत नहीं रहता है ।

‘फलकार सर्वस्व’ के प्रणेता दृष्टिक और ‘चित्र मीमांसा’ लेखक अप्ययदीक्षित भी मम्मट के अनुसार काव्य के तीन ही भेद मानते हैं ।

प्रस्तुत प्रबंध के सीमा क्षेत्र में चित्र काव्य का व्यंग्य विरहित होने से समावेश प्रसंग प्राप्त नहीं है । इसलिए उसका विस्तृत उल्लेख भी अप्रासंगिक है । काव्य के तैय दो भेदों के विषय में किसी भी ध्वनिकायी आचार्य की विप्रतिपत्ति नहीं है । ध्वनिकार ने उन दोनों को प्रमदा ध्वनि और गुणीभूत की सजा दी है^२ और काव्यप्रकाशकार ने उत्तम और मध्यम की ।^३ पण्डितराज ने भय चित्र को मध्यम काव्य की सजा देकर ध्वनि को उत्तमोत्तम और गुणीभूत व्यंग्य काव्य को उत्तम काव्य कहा है ।^४ साहित्य दर्पणकार ने ध्वनि को उत्तम और दूसरे को गुणीभूत व्यंग्य ही माना है ।^५

व्यंग्य के चारस्व उत्पन्न एवं प्राचाय के चारण ध्वनि को उत्तम काव्य माना गया है । ध्वनिकार, काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार इस भावना के सम्बन्ध में एकमत हैं । पण्डितराज भी उसे उत्तमात्तम स्वीकार करके वही बात कहते हैं ।

ध्वनिकार काव्य में ध्वनि की आत्मारूप में प्रतिष्ठा करने के लिये कृतनिवृत्त के फलत उहोंने व्यंग्य का ही विवेचन किया है और उसी के सम्बन्ध से काव्य भेदा का यथास्थान संकेत कर दिया है । समग्र काव्य का साङ्ग विवेचन प्रसंग बाह्य था । वह काव्य के सभी भगों पर विचार करते तो काव्य के भेदादि का विवेचन आवश्यक होता । काव्य प्रकाशकार और साहित्य दर्पणकार का य का साङ्ग विवेचन करना चाहते थे । इसलिये उन्होंने अपनी विवेचना काव्य परिभाषा और उसके भेदों से प्रारम्भ की ।

काव्य प्रकाशकार ने उत्तम काव्य का लक्षण इन शब्दों में दिया है

इदमुत्तमतिशयिनि व्यंग्ये वाक्याद् ध्वनिबुध कथित ।

इस लक्षण में इदम् पद काव्य के लिये है और उत्तम पद उसकी सजा है । इस उत्तम काव्य की का य शास्त्र के पण्डित ध्वनि भी कहते हैं । इममे व्यंग्य वाक्य की अपेक्षा प्रतिशायी (अधिक चमत्कारयुक्त और प्रधान) होता है । विद्वनाय की भी यही भावना है ।

मम्मट ने अपने लक्षण का निर्माण काव्य को ध्यान में रखकर किया था और साहित्य दर्पणकार ने व्यंग्य ग्रन्थ को ध्यान में रखकर ।

१ हि० री० प्र० आचाय, पृ० १८८

२ ध्वया०, ३, ३४, ३५

३ का० प्र०, १/२ ३

४ रसगमाधर, पृ० ११

५ सा० ६०, ३/१३

यह उत्तम काव्य का लक्षण है, मात्र काव्य का नहीं है। रीतिकाल के आचार्य सुरति मिश्र ने अपने ग्रन्थ काव्य प्रकाश में उत्तम का लक्षण इस प्रकार किया है

वाच्य अथते जहँ अनत सुंदर व्यंग्य प्रधान ।

अथ चमत्कृत पद सलित उत्तम काव्य सुमान ।

जिस काव्य में वाच्य अथ की अपेक्षा व्यंग्य सुंदर, प्रधान और चमत्कार युक्त होता है और जिसमें सलित पदों का प्रयोग होता है वह काव्य उत्तम है। व्यंग्य अथ के तीन विशेषण दिये गये हैं, सुंदर, प्रधान और चमत्कृत। इनमें सुंदर से रस, प्रधान से वाच्य की अपेक्षा मुख्यता और चमत्कार से भी वस्तु तथा श्लकार व्यंग्य ग्रहण कर सें तो उत्तम काव्य का लक्षण पूर्ण सगत सिद्ध होता है।

आचार्य हरिचरणदास ने उत्तम काव्य का लक्षण इन शब्दों में किया है

जहाँ वाच्यते रहत है अधिक चमत्कृत व्यंग्य ।

ताही सौँ ध्वनि कहत सो उत्तम काव्य प्रसंग ।

यह लक्षण भी पूर्ण और वगानिक है। उत्तम काव्य का उदाहरण यह है
 और को राग छुटवो कुछ कों, निटिगो अथरा रग देख्यो प्रकासहि ।
 अजन गो हृग-कजनि ते, तनु वपस तेरो कमल हुलासहि ।
 नेकु हित जन को हित चोहो न कीहो अरो मन मेरो निरासहि ।
 बाबरी ! बाबरी तू हान गई प तहाँ न गई जहि पीठ के पासहि ॥

नायिका ने दूती को नायक के पास भेजा था वह नायक से उपमुक्त होकर लौटी है। नायिका दूती के वेश विद्यास व्यतिश्रम से उसकी चोरी को पहिचान गई। वह वाच्य में उससे बाबरी स्नान की बात कह रही है परंतु 'तहाँ न गई जहि पीठ के पासहि' से यह व्यंग्य है कि तू उसके पास सुरत हित अवश्य गई। सर्वथा के तृतीय पद से नायिका के श्लोक की भी व्यंजना स्पष्ट है। यह सर्वथा का प्रकाश के उत्तम काव्य के उदाहरण का सफल अनुवाद है। काव्यप्रकाश के 'प्रथम पद की निकालकर आचार्य कवि ने छंद का व्यंग्य चमत्कार अधिक बढ़ा दिया है। बिहारी सतसई से उत्तम काव्य का यह उदाहरण दिया जा सकता है।

पूस मास सुनि सलिन सौँ साईँ चलत सवार ।

गहि कर बीन प्रबीन तिय राखी राग भलार ।

पूस मास की वर्षा में यात्रा का निषेध है। अनाल वृष्टि में यात्रा नहीं करनी चाहिए इसलिये नायिका ने मल्हार राग गाया जिससे वर्षा हो, और नायक यात्रा स्थगित कर दे। कालचेष्टावशिष्य से यही व्यंग्य है।

ध्वनि-काव्य ॥ भेद—उत्तम काव्य के लक्षण और उदाहरण परीक्षा के बाद उसके भेदों पभेदों के लक्षण और उदाहरणों की परीक्षा आवश्यक है। ध्वनिकार ने काव्य को प्रथम दो भागों में विभक्त किया है

(१) अविवक्षितवाच्यध्वनि और (२) विवक्षिताथपरवाच्य ध्वनि। काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने भी ये ही दो भेद स्वीकार किये हैं।

उपर्युक्त दोनों भेदों में अविवक्षितवाच्य ध्वनि का प्रसंग सन्निध्य और सीमित है इसलिये प्रथम उसी का विवेचन किया गया है। यही परिपाटी सभी आचार्यों ने अपनाई है। इसमें शब्द को

प्रधानता रहती है, अर्थ की तो केवल इसमें सहकारिता रहती है। लक्षणाभूता व्यंजना इसका आधार है। इसमें केवल वस्तु ध्वनि ही होती है। इसमें फलकार ध्वनि और रस ध्वनि का समावेश नहीं हो पाता है। वस्तुतः ये ही दोनों व्यंग्याय वस्तु व्यंग्य की अपेक्षा रमणीय हैं। मत विविनिता-यापरवाच्य की अपेक्षा अविवक्षितवाच्य ध्वनि 'यूनचाष्टवली' है। इसका एक कारण भी है। लक्षणाभूता में लक्षणा के सहकारी हेतुभो—मुख्याय बाय आदि की स्थिति रहती है। फलतः अविवक्षितवाच्य ध्वनि से वस्तु-व्यंग्य तक पहुँचने के लिये श्रुद्धि को प्रयास करना पड़ता है और हृदय की धृतियाँ उस क्षण में निष्क्रिय हो रहती हैं। इसलिये अविवक्षितवाच्य ध्वनि का भग होते हुए भी उस कोटि को नहीं पहुँच पाती जिसको विवक्षिता-यापरवाच्य ध्वनि पहुँचती है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद माने गये हैं^१ अर्थात्तर सक्रमित वाच्य और^२ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य^३।

पद और वाक्य भेद से ये दोनों पुनः दो दो प्रकार के होते हैं

‘अविवक्षितवाच्यस्य परवाच्य प्रकाशता’

—ध्वन्या ३१

वाक्य प्रकाशकार ने भी ‘पादेऽप्यये’ और साहित्य दणकार ने तदयेपदवाक्ययो कहकर ध्वनिकार की बात को दुहरा दिया है। इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनि के चार भेद हो गये (१) पदगत अर्थात्तर सक्रमित वाच्य, (२) वाक्यगत अर्थात्तर सक्रमित वाच्य, (३) पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और (४) वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।

अविवक्षित वाच्य—अविवक्षित वाच्य ध्वनि में लक्षणाभूता व्यंजना रहती है। लक्षणा भूता ॥ यात्पय यह है कि वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् लक्षणा का प्रसंग उपस्थित होता है और तब प्रयोजन के फल में व्यंजना को अवकाश मिलता है। इसकी वस्तु ध्वनि के कारण ही ध्वनि विरोधी आचार्यों को ध्वनि का लक्षणा, अनुमान आदि में मतभवि करने का उत्साह जाग्रत हुआ था।

अर्थात्तरसक्रमित वाच्य जसा कि उसके अर्थ से स्पष्ट है म मुख्याय का पूर्णतया विरोधान नहीं होता अथिषु उसका अपने विशेष रूप अर्थात्तर में सक्रमण होता है। अर्थात्तर-सक्रमित वाच्य म अजहत्स्वार्था लक्षणा होता है। परंतु अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य जसा कि उसके शाब्दिक अर्थ से स्पष्ट है म मुख्याय का पूर्णतया तिरस्कार हो जाता है। इसमें अजहत्स्वार्थलक्षणा का आधार होता है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के उपयुक्त विवरण में उल्लिखित निम्नार्थों को पाठकों की सरलता के लिये इस प्रकार रखा जा सकता है

१—अविवक्षितवाच्य ध्वनि का आधार मुख्याय लक्षणा होता है।

२—ध्वनि के इस भेद में सवदा वस्तुध्वनि ही रहती है। इसमें रस भाव और फलकार ध्वनि नहीं रहती है, फलतः इसमें विवक्षिता-यापरवाच्य ध्वनि की रमणीयता और चारता नहीं होती है।

३—अविश्लिष्ट वाच्य ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य । इनमें अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का आधार अजहत्स्वार्थ अथवा उपादान लक्षणा होती है और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का आधार जहत्स्वार्थ ।

४—लक्षणा का सम्बन्ध प्रायः शब्द से ही रहता है किन्तु जब एक ही वाक्य में एक से अधिक पद अथवा पद समूह लक्षक होता है तो उसको वाक्यगत लक्षणा माना जाता है । इसका विशेष विवरण द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है ।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का लक्षण एक रीतिकालीन आचार्य ने इस प्रकार दिया है —

अथ अजयक भासिके और अथ में जाह ।

साहि अथ मिलि सार्यता अर्थान्तर सुलपाह ।^२

इस लक्षण के तीन भाग हैं (१) अर्थ अनर्थक भासता है (२) उसी अर्थ की सहायता से सायकता होती है और (३) वह अर्थ अथ (और) अथ में जाता है । इन तीनों का सामूहिक अर्थ यह है कि वाक्य अपने विशेष रूप में परिणत हो जाता है । लक्षणा पूर्ण और संप्रत है । अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण यह है

महदी बुद सुसदमन सेत साल की बाल ।

काहे की लू करत है मान कपट को जाल ॥

उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए औरो का आशेष करले । जैसे 'गोली बली' वाक्य में गोली वाच्यार्थ सिद्धि के लिए गोली चलाने वाले व्यक्ति का आशेष करना पड़ता है । ऐसे कोई-कोई आचार्य अजहत्स्वार्थ लक्षणा भी कहते हैं । अर्थान्तर संक्रमित वाच्य में अजहत्स्वार्थ लक्षणा ही रहती है । उपर्युक्त उदाहरण में 'महदी बुद' पद से महदी युक्त नायिका का बोध होता है । बाला नायिका का महदी बूँदों से युक्त करपल्लव नायक के मन को अत्यन्त आकषक लगता है । यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की पदगत ध्वनि का उदाहरण है । इसका दूसरा उदाहरण भी दृष्ट-व है

सुंदर गुन मंदिर रसिक, पास खरो धृजराजु ।

झाली कीन समान है, मान ठानिबो धाजु ॥

मानिनी नायिका को समझाती हुई सखी कहती है कि हे सखि अत्यन्त गुणी एवं रसिक नायक वहाँ एकान्त में तेरा मानापनोद करने के लिए तेरे समीप ही प्रस्तुत है फिर भी भाज मना करने में कौनसा समानापन है ? 'भाज' पद अपना कालवाचक अर्थ देते हुए भी एकान्त प्रादि समय विशिष्ट में संक्रमित होता है ।

अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य का वाक्यगत उदाहरण यह है —

गजकर गजकर हो रहा बंदसी बंदसी दोन ।

प्यारी के उह गुणस की समता में सब होन ॥

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि पदगत और वाक्यगत उदाहरणों को प्रस्तुत करने के पश्चात् अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का पदगत उदाहरण नीचे दिया जा रहा है

भाल भङ्गुटि सोचन अथर, हिये हिये की भास ।

झला दिगुनियाँ छोर को, सखि तिरात हग साल ॥

यह खण्डिता की उक्ति है। प्रियतम रात्रि निवास अग्रतः करके आया है। सपत्नी के साथ समय के अनेक प्रकट एवं अप्रकट लक्षण देखकर अपकृता खण्डिता बहती है। 'हे लाल! आपके हृदय की माला, छिपुनियाँ के छला आदि को देखकर मेरे हृदय धीनल हो रहे हैं।' प्रकरण से शीतलता का वाच्यार्थ व्यर्थ होकर विपरीत अर्थ जलने में परिणत हो जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण

कोन गुन गुन राखरे के सब दीनन को परिताप हरीजू ।
मेरो जितो कुछ दाज करो सो करो नित हो मति ऐसी करोजू ।
ओ पति प्रेम सरोवर जानिके आसिष बेति हों फूला करोजू ।
जीवो करो गुणलौ हित को सुख दो को करो जसलोबो करोजू ॥

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि की वाक्य व्यञ्जकता का उदाहरण ध्वन्यालोक में गीता का 'मानिषा सर्वभूतानां माला इलोक' दिया गया है। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में एक ही छंद दिया गया है जो किसी अपकृत की अपकारी के प्रति उक्ति है। उसमें विपरीत लक्षणा से स्तुति निंदा में परिणत होनी है। रीति कालीन आचार्यों में से कई एक ने उसी का अनुवाद किया है अथवा उसी छाया पर विपरीत लक्षणा का कोई अर्थ उदाहरण दिया है। काव्यसरोज के इस उदाहरण में काव्य प्रकाश के ही उदाहरण की छाया है। अपकृत के मुख से अपकारी की यह स्तुति वस्तुतः निंदा में परिणत हो जाती है।

विवक्षितवाच्य—

उत्तम वाच्य अथवा ध्वनि वाच्य के प्रथम भेद अविवक्षितवाच्य के चारों भेदों का विवेचन हो चुका अब विवक्षितवाच्य ध्वनि का विवेचन प्रसंग प्राप्त है। जैसा पहले कहा जा चुका है अविवक्षित वाच्य का आधार गूढ व्यंग्या लक्षणामूला व्यञ्जना है। प्रयोजनवती लक्षणा के व्यंग्यबोध की दृष्टि से दो भेद स्वीकारे गये हैं—१. अगूढ व्यंग्या लक्षणा और गूढ व्यंग्या लक्षणा। इनमें उत्तम काव्य के अविवक्षित वाच्य का आधार गूढव्यंग्या लक्षण है और गुणीभूत व्यंग्य का आधार अगूढ व्यंग्या लक्षण। अगूढ व्यंग्या पर आधुन व्यंग्य प्रधान नहीं होता है इसलिए आचार्यों ने उसे गुणीभूत व्यंग्य में स्थान दिया है। विवक्षितवाच्य ध्वनि का आधार अमिधामूला यजना है। व्यञ्जना-व्यापार के यावहारिक स्वरूप का विवेचन करते समय शादी व्यञ्जना के दो भेद किये गये थे। अमिधामूला और लक्षणामूला। अमिधामूला यह कि आर्यों यजना का क्षेत्र तो केवल अमिधामूला का क्षेत्र है अतएव उसमें विभाजन की आवश्यकता ही नहीं पड़ी कि तु शादी के प्रसंग लक्षणामूला के साथ अमिधामूला का क्षेत्र और सम्मिलित है इसलिए उसकी दो भेदों में विभक्त कर उसमें सम्मिलित अमिधामूला का क्षेत्र स्पष्ट कर दिया है। विवक्षित वाच्य का आधार जो अमिधामूला यजना कही गई है उसमें शाब्दी अमिधामूला और आर्यों व्यञ्जना दोनों सम्मिलित हैं।

अविवक्षित वाच्य की दो भागों में विभक्त किया गया है। उसमें विभाजन का आधार यद्यपि व्यंग्याय प्रतीति है किन्तु वह लक्षणा के दो भेदों से अलग अलग सम्बद्ध होने के कारण भिन्न सी लगती है। स्पष्टतः उसमें विभाजन का आधार लक्षणा ज्ञान पड़ती है। विवक्षितवाच्य में विभाजन का आधार स्पष्टतः व्यंग्याय प्रतीति है। जहाँ अमिधेय से लेकर व्यंग्याय-बोध तक प्रतीति में क्रम पटिलक्षित होता है उसे अलक्ष्यप्रम व्यंग्य और जहाँ अमिधेय के बोध के पश्चात्

व्यग्राय प्रतीति इनकी शीघ्र होती है कि ज़म का अभाव सा जान पड़ता है उसे असलक्ष्य क्रम व्यग्य माना जाता है। क्रम तो इस प्रतीति में भी रहता ही है किन्तु बुद्धि उस क्रम को पकड़ नहीं पाती है। बिजली के लट्ठों पर लगे बरत एक के बाद दूसरा जलता है, यह निश्चित है किन्तु बिजली गति तीव्र होने के कारण देखने वाले को सभी बरत एक साथ जलते स जान पड़ते हैं। यही स्थिति असलक्ष्यक्रम व्यग्य के क्रम के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब आचार्यों ने क्रम में परिवर्तित होने के आधार पर विवक्षितवाच्य के भेद किये हैं तो उन्होंने इस आधार पर ही उत्तम काव्य के भेद क्यों नहीं किये ? इस प्रकार भेद करने पर अविवक्षितध्वनि भी लक्ष्यक्रम व्यग्य में स्थान पा जाता है। यह सत्य है कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि का समावेश सलक्ष्यक्रम व्यग्य में किया जा सकता है क्योंकि उत्तम सवप्रथम अभिधा से वाच्य का बोध होता है, तत्पश्चात् उसकी अनुपद्यता का बोध होता है, उसके बाद उसके योग के द्वारा अर्थ अर्थ की प्रतीति, और अर्थ में लक्षणा के प्रयोजन के फल का बोध होता है। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि में स्पष्ट क्रम विद्यमान है। परन्तु अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितवाच्य सलक्ष्यक्रम व्यग्य में जो क्रम के लक्षित होने के आधार पर एक ही वर्ग में सतिविष्ट हो जाते हैं एवं मौलिक भेद बना रहना। उनमें से अविवक्षितवाच्य में लक्षणा व्यग्यनिष्ठ होती और विवक्षितवाच्य में अभिधा अर्थात् सलक्ष्यक्रम व्यग्यता की छोटी सी समानता रहने पर भी दक्षिण भेद की भिन्नता बनी रहती। इसलिए आचार्यों ने पहले व्यग्यनिष्ठता के आधार पर अभिधामूला और लक्षणामूला भेद कर दिये। उसके पश्चात् क्रमलक्षिता के आधार पर विभाजन किया। उस में वाच्य बोध से रस बोध तक क्रम भी विद्यमान है परन्तु उसमें बुद्धि का माध्यम अनायास बोध के कारण अविवक्षितता को प्राप्त कर लेता है और हृदय को भाव में रमने का पूरा अवसर प्राप्त हो जाता है। अनायास बोध के कारण ही क्रम रहते हुए भी प्रतीति नहीं होता। वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि रस ध्वनि की प्रवेष्टा निम्न काटि की मानी गई है। कारण इसमें बुद्धि को व्यग्य बोध में योग देना पड़ता है और उस बोध से जानवारिधि में ही वद्धि होती है, हृदय की मुक्त दशा की प्राप्ति में योग नहीं मिलता। इसलिए रस ध्वनि वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि से उरकृष्ट सिद्ध की गई है। रस ध्वनि में वाक्याय बोध से व्यग्राय बोध तक में बोध पक्ष शान्त सा हो जाता है और अर्थ ध्वनियों में बोध पक्ष सक्रिय रहता है। इसी लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने अभिधामूला के असलक्ष्यक्रमव्यग्य और सलक्ष्यक्रम व्यग्य भेद किये हैं।

असलक्ष्यक्रम व्यग्य विवेचन—असलक्ष्यक्रम में रसादि के आठ रूप ग्रहण किये गये हैं। वे ये हैं (१) रस (२) भाव (३) रसाभास (४) भावाभास (५) भावसाति (६) भावोदय (७) भावसन्धि (८) और भावशबलता। जिन आठ रसादि का उल्लेख किया गया है वे काव्य के अङ्गी हैं। वे ही अलंकार हैं। वे ही काव्य का मुख्य अर्थ है।^१ इसके विभावानुभाव व्यभिचारी के प्रतिपादन भेद से अनेक भेद हो सकते हैं। पुनः इनके अङ्गीभूत अर्थ तथा शब्द के आश्रित उपमादि

१—रसभावतदभासभावशान्त्यादिरलंकारः ।

मिथोरसाद्यलङ्कारादलंकारात् तस्या स्थितः । वा० प्र०, ४।२६

रसभावतदभासतत्प्रणात्यादिरलंकारः

ध्वनेरात्माङ्गि भावेन भासमानो व्यवस्थितः । व्यग्यालोक, २।३

एव अनुप्रासादि घटकारो के सम्यो से अपरिमित भेद होने की समावना है। एक एक शब्दी रस भाव के ही उपयुक्त विधा के अनुसार अनेक भेद सम्भव हैं। जैसे शब्दी शृङ्गार के, प्रारम्भ में दो भेद होते हैं, सम्मोग और विप्रलम्ब। उनमें भी सम्मोग के परस्पर प्रेम दर्शन, मुरत और विहारादि भेद हैं। इसी प्रकार वियोग के भी अभिनाय ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शापादि निमित्तक भेद हैं। उनमें से प्रत्येक भेद के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिक के भेद हैं। उन विभावादि के भी देश, काल, आश्रय, अवस्था, आदि भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण एक शृङ्गार के भेद गिनना ही असम्भव है फिर भेदोपभेद के मिश्रण से भेदों की गणना करना तो दूर की बात है^१। इस प्रकार रसादि के अनन्त भेद हो सकते हैं।^२ इस समावना के कारण इनका एक भेद ही स्वीकार किया जाता है।^३

रीति काल के आचार्यों ने रस आदि का विस्तृत निरूपण किया है इसलिए इस सीमित प्रबंध में उन सबके उल्लेख एवं उदाहरणों की समीक्षा यदि प्रासंगिक भी स्वीकार करली जाय तो भी व्यावहारिक नहीं है।

संस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को वाच्य का शब्दी अथवा मुख्य मय स्वीकार किया है।^४ उन्होंने रस, असलक्ष्य प्रम व्याय के सम्बन्ध में एक बात एक स्वर से स्वीकारी है। वह है रस की नित्य व्यंग्यता।

ध्वनिवादी आचार्यों ने रस की व्यंग्यता के कारण ही उसका ध्वनि का एक भेद स्वीकार किया है। रसको ध्वनि का भेद मानने में मान दक्षयन का प्रधान तक यह है कि रस की प्रतीति अथवा अनुभूति अभिधा के द्वारा नहीं होती है अपितु व्यञ्जना के द्वारा होती है। अतः रसादि की वाच्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है वे व्यंग्य ही हैं।^५ रसादि चित्तवृत्ति स्वरूप है।^६ चित्तवृत्ति को अनावृत्त करने की शक्ति व्यञ्जना में ही है।^७ इस सम्बन्ध में एक प्रमाण तो यह है कि जिस रचना में विभावादि की परिपक्व सामग्री का अभाव है उसमें रस, भाव, विभावादि अथवा इनके विभिन्न भेदों में से किसी एक का नामोत्प्लेख मात्र कर देने में रस की धोड़ी भी प्रतीति नहीं होती है।^८ उदाहरण के लिए —

- १ (क) उस मृगाक्षी को देखकर हमें कोई विविध रस उत्पन्न हो गया।
- २ (ख) इस चन्द्र मण्डल को देखकर हमारा मन शृङ्गार में मग्न हो गया।

१ तस्याङ्गानां प्रभेदा स्वगताश्च ये।

तेषामानन्दय मयो य सम्बन्धः परित्यज्यते। ध्वन्या०, २/१२ ध्वन्यालोक २/१२ की वृत्ति।

२ रसादीनां मनःतत्त्वाधेद एकोहि गण्यते। का० प्र०, ४/५७ वृत्ति।

३ रसश्चमुरयः। काव्य प्रकाश० ७/१

४ रसादिलक्षण प्रभेदो वाच्य सामर्थ्यादिपि प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्द-व्यापार विषय इतिवाच्याद विभिन्न एव। ध्वन्या० १/४ वृत्ति

५ व्यक्तिश्चानावणा चित्। रसगंगाधर

६ नहि केवल शृङ्गारादिषु मात्र भाजि विभावादि प्रतिपादन रहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्व प्रतीतिरस्ति। ध्वन्या०, १/४ वृत्ति।

७ हिन्दो रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य पृ० २७६

(ग) तुके देख लेने पर उसमें रति उत्पन्न हो गई ।

(घ) प्रिय के चुम्बन करने पर वह मुग्धा लज्जावती हो गयी ।

इन वाक्यों में रस, शृंगार, रति और लज्जा शब्दों का उल्लेख होने पर भी भ्रूलौकिक चमत्कारजनक रसादि की अनुसृति नहीं होती है ।^१ यदि रस, भाव, विभाव आदि के नामोल्लेख-मात्र से रस की प्रतीति सम्भव थी ऊपर के वाक्यों में उसकी प्रतीति अवश्य होती पर तु उनसे वसी रस, भाव आदि की प्रतीति नहीं होती है । इसके विपरीत इस प्रकार के रस, भाव आदि के नामोल्लेख से स्वशब्द वाच्यत्व दोष और आ जाता है ।^२ वास्तव में स्यायी, सचारी और विभावादि के स्वशब्द प्रयोग की आवश्यकता का उल्लेख उद्भट ने दिया था । उसकी ध्वनिवादियों ने दोष मान लिया । रस की अनुसृति विभावादि की संयुक्त (निशिष्ट) सामग्री के व्यञ्जना से ही होती है । उनके अभिधा प्रनिपादित अर्थ से भी रसादि की प्रतीति नहीं होती है । रस तो आक्षिप्त ही होता है । रस की व्यंग्यता के कारण ही महिममट्ट उसका अनुमान में भ्रतर्भाव न कर सके । परन्तु ध्वनि का अतर्भाव तो स्वीकृत कर दिया भी आ सकता है पर तु रस ध्वनि तो विसृष्टि रूप होने के कारण व्यञ्जना के द्वारा ही अनावृत्त होती है । आनन्दवर्धन ने तो रस की व्यंग्यता का संकेत ही किया था, परन्तु मम्मट ने ध्वनि विरोधियों के प्रदत्त तथा सम्भावित तर्कों की उद्भावना करके उनका सप्रसंग खण्डन करके रस को ध्वय प्रतीपादित किया । रीतिकालीन सभी भ्रूलौक्य आचार्यों ने रस को ध्वय्य स्वीकार किया है । उसकी व्यंग्यता की ओर संकेत दो एक आचार्यों ने ही किया है ।

आनन्दवर्धन ने भावध्वनि को अक्षरतयुक्त्य सलक्ष्य श्रम व्यंग्य के अन्तर्गत भी स्थान दिया है । उन्होंने कुमार सम्भव का यह श्लोक उदाहरण स्वरूप दिया है —

एव वादिनी देवर्षी पार्श्वे पितु रधो मुली ।

लीला कमल पवाणि गणयामास पावती ॥

दशमि नारद के ऐसा कहने (पावती के साथ विवाह की शिव द्वारा सहमति प्रकट करन) पर पिता के पास बड़ी हुई पावती मुँह नीचा करके लीला कमल की पशुटियाँ गिनने लगी ।

यहाँ लीला कमल के पवा की गणना गौण होकर शब्द व्यापार बिना ही व्यभिचारीभाव (लज्जा) की अभि-युक्त करती है । बोधपत्र की दृष्टि से प्रथम लीला कमल की गणना के शब्द व्यापार का बोध होता है । उस प्रथम बोध के पश्चात् लज्जा व्यभिचारी भाव की अभि-युक्ति होती है ।^३ कहने का तात्पर्य उसमें श्रम स्पष्ट रूप से विद्यमान है । इससे यह निष्पन्न निकला कि रसादि का असलक्ष्यश्रम व्यंग्य होना अनिवार्य नहीं है । वे अथ शक्तयुक्त्य सलक्ष्य श्रम व्यंग्य ध्वनि से भी प्रतीत होते हैं । असलक्ष्य श्रम में भी अत्यन्त सूक्ष्म ही यही श्रम तो रहता ही है ।

रस निष्पत्ति का उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता है । कारण यह स्वतन्त्र विषय है और इसके विवेचन के लिए हिंदी में रस सिद्धांत जैसे कई ग्रन्थों की रचना हो चुकी है । किन्तु रीतिकाल के

१ व्यभिचारिसंस्थाविभावाना स्वशब्द वाच्यता—वाच्य प्रकाश,

२ रसार्हता स्पष्ट शृंगारादि रसोदयम्

स्वशब्द स्यामि सचारी विभावाभिनया स्पदम् । वा० सा० सा०, ४/३

३ ध्वयालोक, २/२२ की वृत्ति

आचार्य भिखारीदास ने रस सारांश नामक अपने एक अथ ग्रन्थ में दास ने रस की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है। वह छंद यह है —

जाये नृप मन के बयालीस विचारि बेखो, पाई बिभिवारी सब तैतीस बलानिये ।
पाई यदि निजर जवानो कियो मानस में, रस कहवायो बिभिवारी सगी जानिये ॥
रजधानी धालम्बन सम्पत्ति उद्दीयता को, चहिव को सज्जन को अनुभाव मानिये ।
कोऊ रस भूषन या सौ कोऊ बिना भूषनहि, कवि को तिह के चितेरे पहिचानिये ॥

संक्षेप में यह रूपक यह है—धालम्बन नामक राजधानी में मन नामक नूर निवास करने लगता है। इस राजा के बयालीस पुत्र हैं जिनमें से तैतीस सबदा इतस्ततः घूमने फिरते हैं इसलिए उनको सचारी सजा दी जाती है और जो नौ सदा राजधानी में ही निवास करते हैं उनको स्थायी नाम दिया जाता है। जब कुछ सचारी राजकुमार राजधानी में लौटकर किसी स्थायी राजकुमार से मिल जाते हैं तो उनको रस पुवराज की पत्नी मिन जाती है। राजपुत्रों के पास उद्दीयन बिभाव नामक सम्पत्ति है। इनकी पहिचान अनुभाव द्वारा होती है। इन राजपुत्रों में से कभी कोई राजकुमार भ्रातृपण उपमाणि धारण कर लेता है और कभी बिना भ्रातृपण के ही प्रकट होता है। कवि लोग इन राजकुमारों के विचकार हैं।

रीतिशाल के एक अथ आचार्य हरिचरणदास ने रस के स्वरूप का भी एक बोध में उल्लेख किया है। संक्षेप में उन्होंने ध्वनि के प्राचीन सङ्कत आचार्यों की भाषिता का सुन्दर निबन्ध किया है इसलिए यह पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दिया जा रहा है —

रोष करन सुख करत को जो सुख और काम ।
आवि बिभावन सौ मिल्यो सो रस है अभिराम ॥

इस बोध में 'करन' का अर्थ इन्द्रिय है। रस निष्पत्ति काल में सामाजिक अथवा पाठक की इन्द्रियों के अपने अपने काम व्यापारों को अवलम्ब करता है और मन इन्द्रिय को परिनिवृत्ति जसा सुख प्रदान करता है। विभिन्न रसों के उदाहरण भी सरलता से यहाँ मिल सकते हैं इसलिए उनका भी उल्लेख नहीं किया गया है।

संक्षेप क्लृप्त्यर्थ विवेचन —

विवक्षित वाच्य ध्वनि का दूसरा भेद सलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है। घण्टे के बजने पर प्रथम ध्वनि होती है। सब प्रथम यह ध्वनि श्रोता के कानों में पड़ता है परन्तु बाद में पीछे पीछे बिलीन होती हुई अनुरणन रूप प्रतिध्वनि सुनायी देती रहती है। इस अनुरणन में एक क्रम होता है। इसकी अनुरणन अनुस्वान आदि नाभों से पुकारा जाता है। जिन प्रकार घण्टे की प्रथम ध्वनि के पश्चात् श्रोता को उसका अनुरणन सुनायी पड़ता रहता है उसी प्रकार पाठक को वाच्यार्थ के बोध के पश्चात् जिसे व्यंग्यार्थ की प्रतीति वैसे ही पूर्वपर क्रम से होती रहती है उसे सलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ व्यंग्य निष्ठ होता है। वाच्यार्थ बोध के पश्चात् व्यंग्यार्थ बोध होता

है। ये दोनों स्थितियाँ बोध स्वरूप ही होती हैं। इन पर भावना का रंग कम चढ़ पाता है। सलक्ष्यक्रम व्यंज्य बोध तीन प्रकार का होता है रसादि बोध, अलंकार बोध और वस्तु बोध सलक्ष्य क्रम व्यंज्य रसादि का बोध परमत्व रूप से होता है, पाठक दृष्टा के रूप में रहता है। इस रसादि से पाठक की भावना का वह तादात्म्य नहीं हो पाता जो असलक्ष्य क्रम व्यंज्य में होता है, उसमें भावना पक्ष प्रबल हो जाती है। इसीलिए इसे रसादि बोध माना है। अनुभूति और बोध में बड़ा अन्तर है। अनुभूति में हृदय की द्रुति विप्रलम्भ वरुण और घात में, दीप्तिवीर, रोद्र और भयानक में और विस्तृति प्रायः सभी रसों में, का प्रसंग रहता है और बोध में ज्ञान के विस्तार का, जानकारी के एक नये रूप का।

यह सलक्ष्य क्रम तीन प्रकार का माना गया है — (१) शब्द शक्त्युत्प, (२) अर्थ शक्त्युत्प और (३) शब्दाद्य शक्त्युत्प। इनमें से शब्द शक्त्युत्प ध्वनि में शब्द परिकृत्यसह होता है। इसीलिए इसे शब्द शक्त्युत्प स्वीकार करते हैं। यह पहिले स्वीकार किया जा चुका है कि शब्द के व्यञ्जक होने पर अर्थ की सहकारिता बनी रहती है और अर्थ के व्यञ्जक होने पर शब्द की सहकारिता रहती है। यह एक शका उठती है कि व्यञ्जना वृत्ति के विवेचन प्रसंग में उसका दो विभाग किये थे एक शब्दी व्यञ्जना और दूसरी वार्दी व्यञ्जना। यहाँ आकार व्यंज्य के दो भेद किये — लक्षणामूलक और अभिधामूलक। यदि शब्दी व्यञ्जना की लक्षणामूला स्वीकार किया जाता है तो अभिधामूलक सलक्ष्य क्रम व्यंज्य में अर्थ की व्यञ्जकता का ही प्रसंग होय रहना चाहिए उसमें शब्द की व्यञ्जकता के प्रसंग का समावेश उचित प्रतीत नहीं होता है।

आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने सलक्ष्य क्रम व्यंज्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं (१) शब्दशक्त्युद्भव, (२) अर्थ शक्त्युद्भव और (३) शब्दाद्य शक्त्युद्भव। इनमें शब्दशक्त्युत्प सलक्ष्य क्रम ध्वनि के पुनः दो भेद होते हैं (१) वस्तु ध्वनि और (२) अलंकार ध्वनि। ये दोनों भेद पद और वाच्य की व्यञ्जकता के भेद से दो दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार शब्दशक्त्युत्प सलक्ष्य क्रम ध्वनि के चार भेद हो गये। इहीं भाषाओं के अनुसार अर्थ शक्त्युत्प सलक्ष्य क्रम के प्रमुख तीन भेद हैं (१) स्वतः सम्बन्धी, (२) कवि प्रीडोक्ति मात्र सिद्ध और कवि निबद्धवक्त प्रीडोक्ति मात्र सिद्ध। ये तीनों भेद पुनः चार चार प्रकार के होते हैं — वस्तु से अलंकार व्यंज्य, वस्तु से वस्तु व्यंज्य अलंकार से वस्तु व्यंज्य और अलंकार से अलंकार व्यंज्य। इस प्रकार अर्थ शक्त्युत्प सलक्ष्य क्रम ध्वनि के बारह भेद हो गये। ये बारहों भेद फिर पद, वाच्य और प्रबन्ध की व्यञ्जकता की दृष्टि से तीन तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार अर्थ शक्त्युत्प ध्वनि के कुल छत्तीस भेद होते हैं। शब्दाद्य शक्त्युत्प ध्वनि का केवल एक भेद होता है, वाक्यगत। इस प्रकार सलक्ष्य क्रम ध्वनि के कुल भेद मिलाकर ४१ हुए।

पण्डितराज इन ४१ भेदों के स्थान में केवल उनतीस भेद स्वीकार करते हैं उन्हें कवि निबद्ध पात्र प्रीडाक्तिमात्र सिद्ध भेद की स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि कवि निबद्ध पात्र प्रीडोक्ति तो प्रकारान्तर से कवि प्रीडोक्ति ही है इसलिए कवि निबद्ध पात्र प्रीडोक्तिमात्र सिद्ध भेद स्वीकार करना निरर्थक है।^१ पण्डितराज का यह कथन व्यव्यालोककार के अनुकूल है। व्यव्यालोककार ने एतत्सम्बन्धी मत निम्नलिखित छन्दों में व्यक्त किया है —

“वस्तु प्रपञ्च प्रत्यकार का अभिव्यञ्जक अथ भी स्वतः सम्बन्धी तथा प्रीडोक्तिमात्र सिद्ध प्रकार से दो प्रकार का होता है।^२ उद्धान प्रपञ्च की वृत्ति इस बात की पुनः दुहराया है। उनके ये शब्द विचारणीय हैं :—

“अर्थ शक्त्युत्पन्न सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा है उसके भी दो भेद होते हैं । एक कवि अथवा कवि निबद्ध कला की प्रोक्षोक्तिमात्र से सिद्ध और दूसरा स्वतः सम्भव ।

‘कवे कवि निबद्धस्य वा वक्तु प्रोक्षोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर आचार्य मम्मट एव आचार्य विश्वनाथ के अनुसार उत्तम वाक्य के कुल मिलाकर ५१ भेद माने हैं, किन्तु हमने पिछले अध्याय ४१ के स्थान में केवल ३७ भेद ही स्वीकारे हैं । वे ये हैं — चार अविवक्षित वाक्य के भेद, छ सलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य के भेद, दो शब्द शक्त्युत्पन्न सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भेद, चौबीस अर्थ शक्त्युत्पन्न सलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य के भेद और एक उभय शक्त्युत्पन्न सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का भेद । हम अपनी भेद भा मता के समर्थन में पिछले अध्याय और इस अध्याय पर यथास्थान निवेदन कर चुके हैं । उसकी दुहराने की आवश्यकता नहीं है ।

अविवक्षित वाक्य ध्वनि और विवक्षित वाक्य के असलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य के भेदों का सोदाहरण विवेचन किया जा चुका है । यहाँ पर सलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य के सत्ताईस भेदों का विवेचन प्रस्तुत प्राप्त है ।

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के तीन भेद आचार्यों द्वारा स्वीकारे गये हैं — (१) शब्द शक्त्युत्पन्न सलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य (२) अर्थ शक्त्युत्पन्न सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, (३) उभय शक्त्युत्पन्न सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य । आगे इनके भेदोपभेदों का सोदाहरण विवेचन किया जाता है ।

जैसा पहले उल्लेख हुआ है शब्द शक्त्युत्पन्न सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य में शब्द अनेकायक होता है और उसके स्थान में उसने पर्यायवाची शब्द शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है । शब्द शक्ति से आक्षिप्त प्रत्येक ही व्यङ्ग्य होता है । इसके पद और वाक्य भेद से दो भेद होते हैं —

शब्दशक्ति से अलंकार ध्वनि यथा—

जाँची कर सय दितन मे सोम लहै द्विजराज ।

रहै विष्णु मह मे गुरुधि सुवहादुर महाराज ॥^१

कवि आश्रयदाता बहादुरसिंह महाराज की प्रशंसा कर रहा है । राजरति प्रधान है । कवि को राजा का वृणन ही अभीष्ट है । परन्तु कर, द्विजराज आदि द्वयपद पदों के प्रयोग के कारण सूय के लिए भी अर्थ लगता है । परन्तु सूय का अर्थ अप्रकरणीय है । सूय और राजा की उपमा नोपमेयता व्यङ्ग्य है । वाक्य प्रकाश और साहित्य रूपण दोनों दृष्टियों में शब्द शक्त्युत्पन्न प्रत्येक ध्वनि का उदाहरण आश्रयदाता की प्रशंसा का ही है । इसका दूसरा उदाहरण भी राजरति प्रधान है ।

हाटकपाट विचित्र घनावत याज गहे शरि धरिन भानो ।

गायन श्री महिषो न जु राखत धारत है कुलकानि पिछानो ॥

घाघत सेर श्री दान चुकावत श्री गज को व्यवहारहि भानो ।

मोहरि दस सुलाये जहाँ हरि साहसु ऐसे जहान मे जानो ॥^२

सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में शब्दशक्तिमूल के भेदों का उल्लेख हो चुका, आगे अर्थशक्तिमूल व्यङ्ग्य के भेदों का उल्लेख किया जा रहा है ।

आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ ने लोचनकार अभिनव के अनुसार अथ तीन प्रकार का स्वीकारा है (१) स्वतः सम्भव, (२) कवि प्रोक्षोक्ति सिद्ध और (३) कविनिबद्ध वक्त प्रोक्षोक्तिसिद्ध । स्व लोचनकार ने अथ दो ही प्रकार का माना था । हाँ, उ होने वरि भाग में कवि प्रोक्षोक्ति सिद्ध को स्पष्ट करते हुए कवि प्रोक्षोक्तिसिद्ध अथवा कविनिबद्धवक्त प्रोक्षोक्तिसिद्ध पदों का

प्रयोग अवश्य किया है। किन्तु उनकी वृत्ति से यह बात भली भाँति स्पष्ट है कि वह दोनों को अलग अलग भेद न मानकर एक ही भेद स्वीकारते हैं। पण्डितराज ने मम्मट और विश्वनाथ की मायता का खण्डन करके ध्वन्यालोककार की मायता की पुनः स्थापना की हम भी ध्वन्यालोककार और पण्डितराज की मायता को उचित मानते हैं।

इन प्रबंध की मायता के अनुसार अथ दो प्रकार का होना है (१) स्वतः सम्भवी और (२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध। काग काला होता है और हल सके। कौए का कालापन और हम की सफेदी स्वतः सम्भवी वस्तु है। किन्तु मुख चंद्रमा के समान है वाक्य का लघ्व्य कौए के कालापन और हल की सफेदी की भाँति स्वतः सिद्ध नहीं है, वह कविता की मायता भर है। यह कवि स्रष्टार की प्रसिद्धि है। फलतः यह अथ कवि प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध है। रीतिकालीन आचार्यशास्त्र ने अपने प्रायः काव्य नियम में, इसका सुन्दर विवेचन किया है।

कही पर स्वतः सम्भवी अथ से वस्तु की व्यञ्जना होती है और कही पर अलङ्कार की और कहा पर कविप्रौढोक्ति सिद्ध अथ से वस्तु और अलङ्कार की व्यञ्जना होती है। इस प्रकार अथ शक्तिमूल सलक्ष्यक्रमव्यंग्य के चौबीस भेद हो गये।

(१) स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य, (२) स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य, (३) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य (४) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य। जिस प्रकार स्वतः सम्भवी अर्थशक्तिमूल व्यंग्य के चार भेद होते हैं उसी प्रकार कवि प्रौढोक्तिसिद्ध के भी चार भेद हुए। ये आठो भेद पुनः पद, वाक्य और प्रबंध की प्रकाशता के कारण चौबीस भेदों में परिणत होते हैं। आगे इन सभी के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य—

प्रलय करन बरसन सगे छुरि अलखर हूँ साथ।

सुरपति गध हस्यो हरपि गिरिपद गिरधर हाथ ॥

यह किसी गोप की उक्ति है। 'सुरपति गध हरयो' स्वतः सम्भवी वस्तु से राज की रक्षा वस्तु व्यंग्य है। सम्भव है कोई विद्वान् यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार स्वीकार करें। उसके सम्बंध में निवेदन है कि अलङ्कार तो प्रायः सभी स्थानों पर मिल सकते हैं परन्तु यहाँ अथ से ध्वनि है।

यह उदाहरण मिहारी से है—

सुरति न ताल दतान की उठे न ठहराय।

ऐरी ! राम बिगारियो बरी बोल सुनाय ॥

गायिका की अंतरण सखी की उक्ति है। नायक के बोल सुनते ही गान आरम्भ करने वाली नायिका का तान स्वर विगड़ पया इस स्वतः सम्भवी वस्तु से नायिका की नायक के प्रति अगाध आशक्ति वस्तु व्यंग्य है। उदाहरण सगत चुना है।

स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार यथा—

भूप बहादुर तो हिलसि नव सुसज्ज जहान।

है सबही के सोस पर तेरी तेज अमान ॥

इस उदाहरण की द्वितीय पंक्ति में भूप बहादुरसिंह की सूर्य से साथ समानता व्यंग्य है और प्रथम पंक्ति में 'नव सुसज्ज जहान' इत्यादि स्वतः सम्भवी वस्तु से व्यतिरेक अलङ्कार व्यंग्य है।

१ । शब्दार्थ शक्ति मूल सलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य भी ध्वनि वाच्य का एक भेद है । इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

भार्ये तोलों बसन सुहात है सुगंध तोलों,
सुसनि की सुधि तोलों हिय में हुस्पारी है ।

सब सों सिंगार हार विविध बिहार तोलों,
संसारसार तोलों फलति उज्यारी है ।

सुकवि रतन भय लगो रंगीलो जोलों,
सब छूटत छिनक छहरति सो भस्यारी है ।

बाध जाल बारी प्रानपरतीति कारी कर,
तार की सवारी एक नारी जग प्यारी है । १

यह कवि की उक्ति है । यहाँ शब्द और अर्थ की विशेषता के कारण नारी (पत्नी) और माड़ी ने उपमा भलङ्कार "व्यङ्ग्य" है । जहाँ एक प्राकरणिक अर्थ होगा वहाँ दूसरा अप्राकरणिक होगा । किसी के मरने पर यदि कहा जायगा तो नाडी वाला अर्थ प्राकरणिक और किसी भव दम्पति को देखकर कहा जायगा तो दूसरा अर्थ प्राकरणिक ।



३—गुणीभूत व्यंग्य-काव्य

[१]

पिछले अध्याय में ध्वनि काव्य का उल्लेख किया जा चुका है। ध्वनि काव्य में व्यंग्य ही वाच्य से चमत्कार युक्त प्रधानता होती है।^१ उन शब्दों का प्रतिपाद्य विषय दो प्रकार का होता है वाच्य और व्यंग्य।^२ व्यंग्य भी दो प्रकार का होता है—प्रधान और अप्रधान। जहाँ व्यंग्य का प्राधान्य होता है वहाँ उत्तम काव्य माना ही जाता है और जहाँ उसका अप्रधान्य होता है वहाँ गुणीभूत-व्यंग्य काव्य की संज्ञा प्राप्त होती है। यह नाम भानुदत्त का दिया हुआ है। ध्वनि की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् भी जब आचार्य को दिखाई पड़ा कि अब भी बहुत सी ऐसी रचनायें हैं जो चमत्कार-युक्त होने पर भी त्रिविध ध्वनि—रसध्वनि, वस्तुध्वनि, श्लकार ध्वनि के विस्तृत क्षेत्र में समि-विष्ट नहीं हो सकतीं तो आचार्य ने व्यंग्यार्थ के चमत्कार-तारतम्य की दृष्टि से काव्य के तीन भेद कर डाले १ ध्वनि-काव्य, २ गुणीभूत व्यंग्य-काव्य और ३ चित्र काव्य,^३ ध्वनि का क्षेत्र तो विस्तृत है ही परन्तु गुणीभूत व्यंग्य का भी क्षेत्र कम नहीं है हमारे विचार से चित्र काव्य का भी बहुत बड़ा भाग इसी क्षेत्र में समि-विष्ट हो सकता है।

ध्वन्यालोक और लोचन में गुणीभूत व्यंग्य का उस तारतम्य के साथ बहान नहीं है जिस तारतम्य के साथ काव्यप्रकाश में उपलब्ध होता है। यह निश्चित है कि गुणीभूतव्यंग्य के प्राणो-भेदों के संकेत ध्वन्यालोक में भी विद्यमान हैं और लोचन में तो वे संकेत ध्वन्यालोक की अपेक्षा स्पष्टतर रूप में विद्यमान हैं यहाँ तक कि उनके भिन्न-भिन्न नामों के संकेत भी उन दोनों में उपलब्ध हैं।^४

[२]

साहित्य दण्डकार विद्वनाय ने मम्मट की ही सामग्री का उपयोग किया है।

मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य के निम्नलिखित आठ भेद किये हैं—

भगवत्, अपराध, वाच्यसिव्यंग्य, अस्पृष्ट, सन्दिग्ध प्राधान्य, तुल्य प्राधान्य, काव्यसिद्धि और भगवत् ।

१ वाच्यादतिशयिनि व्यङ्ग्ये—का० प्र० १/२

२ ध्वन्यालोक, पृ० २५२, पंक्ति ७

३ ध्वन्यालोक, ३।३४ ३५ ४२ ४३

ध्वन्यालोक प्रधानगुणमात्राव्या व्यंग्यस्यैव व्यवस्थिते। ध्वन्यालोक ३ ४२।

४ काव्यप्रकाश सविमश शशिबला टीका, पृ० १३८।

अगूढ़—व्यंग्य सहृदयजन संवेद्य होता है। यह प्राम गूढ़ हो जाता है। परन्तु व्यंग्य की अधिक गूढ़ता और अधिक अगूढ़ता उसकी चारुता कम कर देती है। इसलिए इतना अधिक गूढ़ व्यंग्य कि जिसको सहृदय भी न समझ सकें और इतना अधिक अगूढ़ अथवा स्पष्ट कि सर्वसाधारण भी समझलें गुणीभूत व्यंग्य के क्षेत्र में ही आते हैं। जहाँ व्यंग्य सहृदयजन संवेद्य भी नहीं होता वहाँ वह 'अस्पष्ट' माना जाता है, जहाँ वह सर्वसाधारण संवेद्य हो जाता है वहाँ स्पष्ट अथवा अगूढ़ माना जाता है।

आचार्य मम्मट सु दूर व्यंग्य उसको स्वीकार करते हैं जो कामिनी कुछ कलदास न तो अत्यन्त प्रकाशित और न अधिक निगूढ़ होता है। बालबोधिनीकार ने इस प्रकार के व्यङ्ग्य्य धरकार को स्पष्ट करने के लिए यह उद्धरण दिया है —

नाभीययोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुजरोस्तन इवातितरां निगूढ़ ।
अर्था गिरामविहित विहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवपुःकुशाभ ।

वाक्य का अरथ स्पष्ट अथ तलझनारियों के खुले कुच दृढ़ की भाँति सहृदय के हृदय में आह्लास उत्पन्न नहीं करता और न गुजरोस्तनवत् अरथ निगूढ़ अथ भी आह्लासक होता है। अपितु महाराष्ट्र की नारियों के कुच की भाँति इन दोनों के मध्य की स्थिति वाला व्यापार अधिक भाविक होता है।

बालबोधिनीकार ने सबप्रथम 'अगूढ़ भावक' गुणीभूत व्यंग्य की ओर ही संकेत किया है। 'अगूढ़' गुणीभूत व्यंग्य का सम्बन्ध वस्तुमात्र की व्यङ्ग्यता से ही है। वस्तुमात्र की व्यङ्ग्यता का क्षेत्र सीमित है। इसके दो ही क्षेत्र हैं—प्रथम अविवाहितवाच्य ध्वनि का क्षेत्र और दूसरे सलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य में अथ शक्तिमूल वस्तुध्वनि का क्षेत्र। अविवाहितवाच्य ध्वनि में केवल वस्तु की ही व्यञ्जना होती है। काव्य प्रकाश ॥ आचार्य मम्मट ने 'अगूढ़ गुणीभूत व्यङ्ग्य के तीन उदाहरण दिये हैं—(१) दो अविवाहितवाच्य ध्वनि के दो भेदों से सम्बन्धित और तीसरा अथ वा शक्तिमूल सलक्ष्य क्रम ध्वनि से सम्बन्धित वस्तु ध्वनि का। ॥ शक्तिमूल धरकार ध्वनि और अथ शक्तिमूल वस्तु से धरकार ध्वनि तो निश्चित ध्वनि क्षेत्रात् पाती हैं। जसा कि आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कह दिया है —

“जत्र वस्तुमात्र से धरकार की व्यञ्जना होगी तो यह निश्चित ध्वनि का विषय होगा। वहाँ गुणीभूत का प्रसंग ही नहीं उठ सकता।”^१

संक्षेप मूला ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं^२ अर्थात्तर सक्रमित और अस्थित तिरस्कृत वाच्य।

१ तत्र वस्तुभाचस्य यद्वचस्य ध्व० लो० पृ० २५६

२ अर्थात्तर सक्रमित वाच्यमत्यंत तिरस्कृत वाच्य परगत् क्षणाय क्षणाय मूल सलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य चागूढ भवतोत भाव चन्द्रालोक की पौष्णमासी टीका, पृ० २६५

३ व्यञ्जने वस्तुमात्रेण मंडाल कृतय स्तदा ध्रुव ध्वयङ्गता तासा—ध्व० या० २।३०

४ बाल बोधिनी, पृ० १६४

इन दोनों भेदों में जहाँ व्यंग्य गूढ़ होता है वह ध्वनि का विषय है, केवल जहाँ व्यंग्य अगूढ़ रहता है वही तन्मात्रक गुणीभूत व्यंग्य का क्षेत्र है। दूसरे जहाँ रस ध्वनि होती है, वहाँ भी व्यंग्य की अगूढ़ता का प्रसंग नहीं उठता है। कारस रस—भाव ध्वनि में रस भाव की प्रतीति विभावादि के अनुसंधान से ही होती है। विभावादि का अनुसंधान स्वसाधारण बोध्यगम्य नहीं होता। रस-भाव की प्रतीति इसी विभावादि के अनुसंधान के कारण अगूढ़ नहीं हो पाती।^१ शब्द शक्युत्पन्न अलंकार ध्वनि से अगूढ़ का सम्बन्ध नहीं है। शब्द शक्ति मूलक अलंकार ध्वनि में प्रकृत धात्वार्य की प्रतीति का व्यवधान उपस्थित हो जाता है।^२

शब्दाद्य शक्युत्पन्न ध्वनि में भी अगूढ़ व्यंग्य का अवकाश नहीं है। यही बात काव्य प्रकाश के उद्योतकार ने भी स्वीकार की है।^३ अगूढ़ के इस सीमित क्षेत्र का संकेत ध्वन्यालोक, लोचन, चन्द्रालोक की षोडशोऽंशिका और काव्य प्रकाश में है।

अगूढ़ का उदाहरण—

कचुकी सौधें सनी सुबनी पहिरी चुनरी चटकीली सुरग सों ।
बघन देखि 'कुमार' सरूप सिंगार सिंगारति प्रीति उभय सों ॥
एक कह्यो, करि हेली हहा, यह पाव सही करि सोभ तरंग सों ।
राखति भूषण में रुचि रंग तो सात मिलाउरी सोने से अंग सों ॥^४

यह सखी की नायक के प्रति उक्ति है। यह नायक को कञ्चनशरीरा किसी नायिका से मिलाना चाहती है जिसको 'लाल मिलाउरी सोने से अंग सों' कहकर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। यह अर्थांतरसन्नमित अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है। द्वितीय उदाहरण यह है —

बालक बैस के बानिक आनु बिलोकनि रचक नन अघात हैं ।
पीत सगा अरु तसीये पाग समोष सखा छवि तों सरसात है ।
लजन से हृष आनन अरु लस शशिनाथ हिये नुलसात हैं ।
काह जसोमति के अंगमा अधिमाखन हाथ धरे सुखिवात हैं ?

वक्ता भक्त है। बालकृष्ण के लोकरजक स्वरूप को देखने से भक्त की प्रीति की सुप्ति नहीं होती है। यह 'नैन अघात' में अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि से सबजन स्पष्ट है।

अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षित वाच्य का दूसरा उदाहरण—

धधु धधु अवलोकि तुव जानि परै सब रंग ।
बीस बिसे यह वसुमती, जहे तैरे संग ।

यह अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि की गौणता का उदाहरण है। यहाँ विपरीत लक्षणा का प्रसंग है 'जहे तेरे संग, से यह अर्थ है कि न वह किसी के साथ गई है न तेरे साथ जायगी।

अत्यन्ततिरस्कृत का अर्थ उदाहरण भी दृष्टव्य है —

पलक पीक अजन अघर धरै महावर माल ।
आनु मिले जु भली करी भले बने हो सास ॥

१ यही पृ० १६४

२ काव्य प्रकाश उद्योत—बालयोगिनी में उद्धृत, पृ० १६४

यह विहारो कवि का दोहा है। यह खण्डिता की सापराध नायक के प्रति उक्ति है। यहाँ भली करी और 'मले बने हूँ' के विपरीत सक्षणा के द्वारा 'भापने अच्छा नहीं किया, भापने मेरे प्रति अपराध किया है। भापका यह रूप मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहा है।' अर्थ स्पष्ट है यहाँ पर खण्डिता का क्रोध सबजन सबेध है।

अपराध विवेचन—वस्तुतः काव्य में रस ध्वनि ही प्रधान होती है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इसकी सर्वोत्कृष्टता ही केवल घोषित न की अपितु काव्य के अन्य भागों को भी रसादि सम्बन्ध से ही चमत्कार युक्त स्वीकार किया। ध्वन्यालोकान्वार ने एक से अधिक स्थान पर रस ध्वनि को वस्तु और अलंकार ध्वनि का भी जीवित स्वीकार किया है। मम्मट ने भी ध्वन्यालोक का ही अनुवर्तन करते हुए रस को काव्य का मुख्य अर्थ स्वीकार किया है।

रस में प्रतीत्यात्मक उत्कृष्टता भी विद्यमान है। रस विवक्षित वाच्य ध्वनि का एक भेद है। रस भाव की प्रतीति में बुद्धि का व्यवसाय पूर्यता समाप्त हो जाता है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि में बुद्धि का व्यवसाय अपेक्षित मात्रा में विद्यमान रहता है। उसमें मुख्यतः वाच्य, तद्गोचर और प्रयोजन भावि का विमर्ष बुद्धि व्यवसायजन्य है। फलतः प्रयोजन रस की प्रतीति में कुछ समय लग जाता है और फल प्रतीति का आस्वाद्य भावाससाध्य होने के कारण निम्नकोटि का रहता है। उसे बुद्धितोष कहना ठीक है। सलक्ष्यक्रम विवक्षित-वाच्य में व्यवसाय की प्रतीति में अविवक्षित वाच्य की अपेक्षा बुद्धि व्यवसाय कुछ कम अवश्य रहता है परन्तु उसका बोझ बहुत अवकाश अवश्य बना रहता है। वाच्यार्थ बोध के उपरांत व्यवसाय बोध तक का क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है। रस-बोध में बुद्धि व्यवसाय प्रायः शांत सा जान पड़ता है। रस भाव रूप अर्थ वाच्य के साथ ही सा प्रतीत होता है। वाच्य श्रवण के पश्चात् वाच्य का बोध होता है और वाच्य बोध के तुरन्त बाद ही रसादि अवभासित होते हैं। वाच्य बोध और रसादि प्रतीति में क्रम अवश्य रहता है परन्तु उसकी प्रतीति नहीं होनी इसलिए रसादि की असलक्ष्य क्रम अवज्ञाय माना जाता है। इसलिए ही रसादि ध्वनि वस्तु एवं अलंकार ध्वनि की अपेक्षा उत्कृष्ट स्वीकार की जाती है।

रसादि ध्वनि की उत्कृष्टता का एक कारण और भी है। वस्तु ध्वनि अथवा अलंकार ध्वनि के प्रत्येक उदाहरण में किसी न किसी रस अथवा भाव का सम्बन्ध अवश्य बना रहता है। रस भाव ध्वनि काव्य का प्राण है जिसकी सत्ता अनिवार्य है। इसीलिए साहित्य्य दण्डकार ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया था। कहने का सारांश यह है कि रसादि ध्वनि उच्चकोटि का काव्य-चमत्कार है। इस चमत्कार के अभाव में काव्य की काव्य सत्ता नहीं दी जा सकती है।

रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि की अपेक्षा एक अर्थ दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। रस ध्वनि वाच्यतासह होती है उसका वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता वह उससे निरन्तर भिन्न होती है। वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनियों में वाच्यार्थ का योग बना रहता है। यह रस ध्वनि ही पाठक अथवा सामाजिक की सद्यः परनिवर्ति प्रदान करने आनन्दप्रदान करता है जो काव्य का सर्वमौलिभूत प्रयोजन है।

अलंकारवादी आचार्य और रसवत

ध्वनिवादियों से पूर्व अलंकारवादियों ने रस की महत्ता की स्वीकार तो किया था परन्तु उन्होंने अलंकार को काव्य का सधस्व माना। उन्होंने काव्य के समस्त सौन्दर्य को अलंकार में

सन्निविष्ट करने की चेष्टा की। रस को भी भ्रलकार नाम से अभिहित करके भ्रलकार सीमा में धकेल दिया। इन भ्रलकारवादियों में भामह, दण्डी, वामन और उद्भट का नाम उल्लेखनीय है। भामह और दण्डी ने रस और भाव को रसवत आदि भ्रलकारों से सम्मिलित कर लिया।

- उद्भट ने भी भामह का अनुकरण किया है और भामह की मायताओं पर अपनी प्रतिभा की छाप लपादी है। ये सभी आचार्य रस को वह स्थान प्रदान न कर सके जो उसको बाद में ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा प्रदान किया गया। इसका प्रधान कारण यह था कि नाट्यशास्त्र में 'नाट्ये प्रष्टो रसा स्मृता' लिखकर महाकाव्य में मानो उसका निषेध कर दिया गया था। इसका प्रथम प्रतिवाद रुद्रमट्ट ने अपने श्रु गार तिलक नामक ग्रन्थ में किया। उसने स्पष्ट लिखा—नव काव्ये रसा स्मृता 'काव्य में नव रस स्वीकार किये जाते हैं। भामह, दण्डी, रुद्रमट्ट के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। यद्यपि ये भ्रलकारवादी आचार्य व्याख्यायुक्त काव्य के चमरकार से पूर्ण परिचित से जान पड़ते हैं तथापि वे उस ग्रन्थ को भ्रलकार से अधिक महत्ता न दे सके। उसमें नाट्यशास्त्र का उपयुक्त उल्लेख ही प्रमुख बाधक जान पड़ता है।

भामह दण्डी और उद्भट तीनों आचार्यों ने रस, भाव रसाभास और भावाभास को क्रमशः रसवत, प्रेयस्वत और ऊर्जस्वि भ्रलकार नाम दिया है और आचार्य उद्भट ने भाव शान्ति की समाहित भ्रलकार माना। भामह और दण्डी के समाहित से उद्भट का समाहित भिन्न है। इन तीनों आचार्यों में भामह पहिले आचार्य हैं और गेप दोनों आचार्यों ने इनसे यथेष्ट प्रेरणा ली है परन्तु दण्डी और उद्भट का विवेचन भामह की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रबल है। भ्रलकारों की परिभाषा निश्चित करने में उद्भट ने विशेष सूक्ष्मबुद्धि का परिचय दिया है। उद्भट द्वारा प्रतिपादित परिभाषायें अधिक स्पष्ट एवं वार्तान्वित हैं।

रसवत भ्रलकार का लक्षण दण्डी ने अश्रित सक्षिप्त दिया है, रसवत रसपेक्षालभ परन्तु उद्भट की परिभाषा में रस के अन्वयता का भी समावेश हो गया है वह इस प्रकार है—

रसवद्गुणित स्पष्ट श्रु गारादिरसादयम् ।

स्वशब्द स्थायि सञ्चारी विभवाभिनया स्वयम् ।

उक्त परिभाषा में स्थायी सञ्चारी, विभाव और अभिनय के साथ स्वशब्द का भी उल्लेख है। जैसा इसी प्रसंग में अग्रज उल्लेख किया जा चुका है कि उद्भट के समय तक रस स्थिति नाटको तक ही सीमित थी। इसीलिए उद्भट ने इसमें अभिनय की ग्रहण कर लिया। रस निष्पत्ति में स्थायी, सञ्चारी और विभावादि की स्थिति से ध्वनिवादियों को भी भाव है।

रस निष्पत्ति के लिए स्थायी और सञ्चारी आदि की स्वशब्दवाच्यता उद्भट के समय में प्रतिपाद रही होगी जैसाकि अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है। ध्वनिवादियों के समय में रस, भाव आदि की स्वशब्दवाच्यता दोष मानी गयी। भ्रलकारवादी आचार्यों ने रसवत भ्रलकार वहाँ स्वीकार किया जहाँ वह अज्ञोद्भूत स्थिति में हो। इसके विपरीत ध्वनिवादियों ने रसवत भ्रलकार वहाँ माना है जहाँ पर रसादि किसी ग्रन्थ रसादि ग्रन्थ वाक्यार्थोद्भूत वाच्य का भग बन गया हो।

प्रेय भ्रलकार की परिभाषा उद्भट ने यह दी है, जहाँ पर अनुभाव आदि के द्वारा इत्यादि स्थायी भावों का काव्य में बर्चन होता है। सज्जनों ने उसे प्रेय का उदाहरण स्वीकार किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ पर भ्रलकारवादियों का भाव का अज्ञो (प्रधान) होना स्वीकार है। इसके विपरीत ध्वनिवादी भाव की अज्ञोता में प्रेयस्वत्त्व भ्रलकार स्वीकार करते हैं।

ऊर्जस्वि नामक अलंकार के जो उदाहरण रामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं उनसे प्रकट होता है कि ये दोनों आचार्य इस अलंकार का सम्बन्ध ऊर्जस्वि बचनों के कथन से स्वीकार करते थे। परन्तु ऊर्जस्वि के लक्षण में उद्भट ने एक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक परिवर्तन कर दिया है। उन्होंने अपने लक्षण में स्पष्ट लिखा कि काम क्रोध आदि कारणों से अनीवृत्य रूप से प्रवर्तित रसो और भावो का भाव्य में निबध्न ऊर्जस्वि कहाता है।^१ उद्भट के इस लक्षण में ध्वनिवादियों ने उतना ही परिवर्तन किया जो पिछले दोनों अलंकारों रसवत् और प्रियस्वत् में किया था, अर्थात् उद्भट ने अङ्गीभूत रसभास और भावभास को ऊर्जस्वि अलंकार स्वीकार किया। परन्तु ध्वनिवादियों ने अंगभूत रसभास और भावभास को ऊर्जस्वि माना।

समाहित अलंकार के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध में भी उद्भट और ध्वनिवादी आचार्यों की भाष्यताओं में वही अंगीभूत और अंगभूत वाला प्रधान अन्तर है।

उद्भट ने समाहित अलंकार वहाँ स्वीकार किया है जहाँ रसभाव, रसभास और भावभास की शांति का ऐसा निबध्न हो जिसमें अथ किसी रस रसभास आदि के अनुभावा की प्रतीति न हो।^२

उद्भट आदि अंगीभूत रसादि को अलंकार मानने हुए भी विशालकारा से भिन्न मानते थे। हमारी इस धारणा की पुष्टि इस बात से और भी अधिक होती है कि—

उद्भट द्वारा प्रस्तुत द्वितीय उदात्त अलंकार में उनके 'यापता प्रति हारे'दुराज ने अंगभूत रसादि को सम्मिलित किया है।^३ उनके इस कथन का अनुमोदन रघ्यक के अलंकार सवत्सव में भी उपलब्ध है। उन्होंने इस का अनुमोदन करते हुए लिखा है—

यत्र यास्मिन् वक्ष्यते वाक्यार्थभूता रसावयो रसवत्सलकाराः ।

तत्रांगभूत रसादि विषये द्वितीय उदात्तलकारः ॥^४

कहने का तात्पर्य यह है कि अलंकारवादियों को रसादि की दो स्थितियाँ स्पष्ट मार्ग थीं (१) अंगीभूत और (२) अंगभूत। रसादि की अंगीभूत स्थिति में रसवत् आदि अलंकार नाम दिया जाता था और अंगभूत स्थिति को उदात्त अलंकार से सम्मिलित किया जाता था।

ध्वनि और रसवादी आचार्यों ने जब अंगभूत-योग्य रस आदि को गुणीभूत के अपर्याय भेद के प्रत्यक्ष स्थान प्रदान कर दिया तो द्वितीय उदात्तलकार वाली धारणा भी समाप्त हो गयी। विश्वनाथ ने इसी तथ्य का उल्लेख किया है।^५

ध्वनिकार से पूव की रसवत् भाष्यता

ध्वनिकार से पूर्व रसवादि अलंकारों के सम्बन्ध में इस भाँति प्रतिरिक्त एक भाष्यता

१—अनीवृत्य प्रवृत्ताना कामक्रोधादि कारणान् ।

भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते । का० सा० स,

२—रसभाव तदाभास वत् ।

३—का० सा० स०, ४१७

४—अलंकार स

और यो, जिसका उल्लेख ध्वनिकार ने पूर्व पक्ष के रूप में किया है। "जहाँ पर चेतन व्यक्तियों के वणन का प्राधान्य होता है वहाँ रसवत भलकार माना जाता है।

यह मायता किस विधान की है इसका कोई उल्लेख नहीं है। ध्वनिकार ने इस मायता का खण्डन निम्नलिखित ढंग से किया है। प्रथम जहाँ जहाँ अचेतन पदार्थों का वणन उपलब्ध होता है वहाँ वहाँ चेतन का सम्पक ध्वनिवाच्य रूप से रहता ही है। यदि चेतन वणन में रसवत भलकार मान लिया जाता है तो उपमादि भलकारों का विषय क्षेत्र ही समाप्त हो जाता है।^१

अनेक महाकवियों के अचेतन पदार्थों के अत्यन्त सरस वणन उपलब्ध हैं। यदि रसवत को केवल चेतन जीवन के वर्णन तक ही सीमित कर दिया जायगा तो अचेतन पदार्थों के सभी वणन नीरस मानने पड़ेंगे। अचेतन जगत के वणन भी मानव भावना के आरोप से ही रसपेक्ष हैं। यहाँ तक कि उपमादि के अप्रस्तुत विधान में भी मानव भावनाओं और चेट्याभा का प्रयोग प्रचुर रूप से मिलता है।^२

आमह, दण्डी, उद्भट और ध्वनिकार को रसवत सम्बन्धी मायताओं के साथ इस उपयुक्त मायता का भी कृतक ने पूर्व पक्ष में उल्लेख किया है।^३ इससे स्पष्ट है कि चेतन व्यक्तियों के भावपूर्ण वर्णन सम्बन्धी रसवत की उपयुक्त मायता काव्यशास्त्र में प्रमुख रही है, सभी तो ध्वनिकार और वक्रोक्तिजीवितकार ने उसका पूर्वपक्ष में खण्डन करने के लिए उल्लेख किया है।

ध्वनिकार और रसवत भलकार—रसवत भलकार के सम्बन्ध में ध्वनिकार की मायता का सार यह है। रसादि कभी भी भलकार नहीं हो सकते वे तो भलकार्य हैं। जहाँ कहीं उन्हें भलकार माना जायगा वहाँ भी उस भय में नहीं जिन भय में भलकार माने जाते हैं। राजा किसी अनुयायी सेवक के विवाह में वर के पीछे पीछे चलता हुआ भी गौणत्व प्राप्त नहीं करता।^४ उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"मेरी सम्मति में रसादि भलकार काव्य में वहाँ पर माना जाना चाहिए जहाँ पर किसी भय वाक्यांश की प्रधानता होने पर रसादि भय हो।"^५

अभिनव गुण और रसवत भलकार—वस्तुतः अभिभूत रसादि भी भलकार्य है। भलकार कसे माने जा सकते हैं। सोचनकार अभिनव गुण ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्वनिकार के मत का इस प्रकार समर्थन किया है —

"उपमादि भलकारों में चन्द्र आदि जिस प्रकार मूल आदि की भलकृत करते हैं उसी प्रकार रसादि दूसरे रस भयवा वस्तु को भलकृत कर सकते हैं। इसलिए चन्द्र आदि की भाँति रसादि को भलकार कहने में न कोई कठिनाई है और न कोई विरोध है।

^१ 'यदि तु चेतनानां वाक्यार्थोभापो रसाधलकारस्य विषय इत्युच्यते।

तर्ह्युपमादीनां प्रविरसविषयनानिर्विषयता वाभिहिता स्यात्। ध्व०, प० ६१

^२ ध्वयालोक पृ० ६२

^३ वक्रोक्तिजीवित हिंदी टीका, प० ३५३ ३५४

^४ ध्वयालोक दीधिति, पृ० ३४७

^५ प्रधानेऽयं वाक्यार्थे यत्रागतु रसादयः।

वाक्ये तस्मिन् भलकारो रसादिरिति मे मति। ध्व० २१५

"इस पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि रस किस प्रकार प्रस्तुत भय को प्रलङ्घित करती है ? तो प्रश्नकर्ता से यह भी पूछा जा सकता है कि उपमा किस प्रकार प्रस्तुत भय को प्रलङ्घित करती है ? यदि प्रश्नकर्ता पूछे गये प्रश्न का यह उत्तर देना है कि उपमा प्रस्तुत भय के सदृश पदार्थ लाकर उसके सौंदर्य एवं प्रभाव को हृदयगम कराने में सहायता करती है। तो बस, यही उत्तर इस प्रसंग में स्वीकार किया जा सकता है कि रस भी योएँ रहकर प्रस्तुत प्रधान भय को रस बना देता है। इसमें अपनी सर्वेदना ही प्रमाण है।"

कुतक और रसवत् प्रलङ्कार—वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुतक ने रसवत् की तीन मायताओं प्रलङ्कारवादियों की मायता चेतन व्यक्तियों के वर्णनवाली मायता और ध्वनिकार की मायता को पूर्वपक्ष में रखकर तीनों का खण्डन किया है। कुतक ने रसवत् की उपयुक्त मायताओं का विभिन्नरूप से खण्डन किया है। उन्होंने प्रलङ्कारवादियों भामह दण्डी और उद्भट की परिभाषाओं का उल्लेख किया है और रसवत् शब्द की व्याकरणिक निष्पत्ति का आधार पर अधिक ध्यान दिया है। इन भाषाओं की रसवत् की मायता के अनुसार जो भी प्रलङ्कार अपने रसात्मक सौंदर्य से रस के समान ही सहृदय प्राज्ञादकारी होता है उसे ही रसवत् प्रलङ्कार कहते हैं। भामह उद्भट आदि ने जो रसवत् शब्द का प्रयोग किया है उसमें रस शब्द से मतुप' प्रत्यय स्वीकार न करके पाणिनि के 'तन तुल्य० क्रिया चेदिति' सूत्र से सादृश्याधिक्य' वति' प्रत्यय स्वीकार किया है।

कुतक ने 'रसवत्' के अपने समय तक के प्रचलित सभी लक्षणों का बौद्धिक खण्डन करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्होंने 'रसवत्' की कोई नवीन स्थापना प्रस्तुत नहीं की। 'रसवत्' की उनकी व्याकरणिक व्याख्या से सुन्दर समाधान नहीं हुआ।

कुतक ने प्रेम, ऊजस्वी, समाहित प्रलङ्कारों के प्राचीन लक्षणों की भी आलोचना की है।

यह आलोचना भी प्रायः खण्डन के लिये ही है। उनके स्थान पर उन्होंने कोई अपना सुझाव नहीं दिया है। "कुतक ने उपयुक्त सभी प्रलङ्कारों का रसवत् प्रलङ्कार की भाँति ही निषेध किया है। उनका एक सामान्य तर्क तो यही है कि रसपूर्ण कथन की भाँति प्रिय कथन प्रथवा ऊजस्वी कथन आदि उद्भट के अनुसार भाव, भावाभास, रसाभास तथा भाव शान्ति भी प्रलङ्कार ही हैं, वे प्रलङ्कार नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रलङ्कार के विरुद्ध विरोध तर्क भी कुतक ने प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिये दण्डी का 'प्रियस्तर आस्थान' व्याज स्तुति मात्र है, उद्भट का भाव कथन भी 'याज स्तुति आदि कोई प्रलङ्कार हो सकता है। उनका ऊजस्वी तो किसी प्रकार माय नहीं हो सकता क्योंकि अनौचित्य काव्य में सवया अप्राप्त है।"

कुतक के पश्चात् कालक्रमानुसार मम्मट का समय है। परन्तु उनसे पहिले उनके परवर्ती विश्वनाथ और पण्डित राज की 'रसवत्' की मायताओं का विवेचन किया जाता है क्योंकि आलोच्य ऐतिहासिक आचार्यों ने 'रसवत्' के सम्बन्ध में प्रायः मम्मट का ही अनुसरण किया है। रसवत् प्रलङ्कार और विश्वनाथ

रसवत् की विश्वनाथ ने उपवाप गुणीभूत 'यम्य' के अतिरिक्त 'यम्य' के अतर्गत रस दिया

है। उहोने कोई विशेष बात नहीं कही है। वस्तुतः रस में काव्यत्व स्वीकार करने वाले विश्वनाथ ने रस के गोण प्रसंग को गुणीभूत व्यंग्य के प्रतिरिक्त दूसरा नाम देना उचित न समझा।

रसवत् और पण्डितराज

पण्डितराज ने रसवत् के विवेचन में कई विवादों और विक्ल्पो की संशय में सूचना दी है जिनका यहाँ उल्लेख असंगत प्रतीत होता है। रसवत् के सम्बन्ध में वह मम्मट के अनुयायी नहीं है, अपितु भानुदत्त और अभिनवगुप्त के अनुयायी हैं। उहोने भानुदत्त और अभिनवगुप्त के 'रसवत्' सम्बन्धी सिद्धांत को भी मौखिक बदल करके स्वीकार नहीं कर लिया है, लेकिन उसकी बायोक्रियाँ का भी उद्धाटन किया है। इससे मम्मट की अरवि के समाधान की भी सभावना भी वे प्रस्तुत करते हैं।^१

मम्मट की रसवत् सम्बन्धी भाष्यता

मम्मट ने 'रसवदलकार' के स्थान में 'अपराङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है जो उचित है। काव्य में प्रधान स्थान रखने वाला रस अप्रधान होने पर 'अपराङ्ग' दूसरे प्रधान का अपङ्ग ही स्वीकार किया जायगा। भानुदत्त ने 'रसवत्' को असंख्य होते हुए भी अलकार माना है; मम्मट को यह स्वीकार नहीं।^२ उहोने अलकार का यह लक्षण दिया है

उपप्लवति त सत अगद्वारेण जातुन्ति ।

हारादिष्वलकारा ।^३

मम्मट के अनुसार अलकार वे ही हैं जो वाच्य के शरीर शब्द अथवा अर्थ की सुशोभित करते हुए वाच्य के अंगीभूत (प्रधान) रस अथवा व्यंग्य को उपट्ट करते हैं। अलकार का यह लक्षण 'रसवत्' अलकारों पर घटित नहीं होता है। गुणीभूतरसादि किसी शब्द अथवा अर्थ को उपमादि अलकारों की भाँति भूषित करते हुए किसी अर्थ रसादि को उपट्ट नहीं करते। इसीलिये कदाचित् मम्मट को 'रसवदादि' अलकार कहना उचित प्रतीत नहीं होता और यही कारण है कि मम्मट ने रसवदादि को न तो दशम उल्लास में अलकारों के साथ रखना और न उनका 'रसवदादि' नाम के अंतर्गत विवेचन ही किया। उनको गुणीभूत-व्यंग्य मानकर उसका अपराङ्ग नामक भेद स्वीकार किया है। ध्वनि की दृष्टि से मम्मट का पक्ष संगत है।

अपराङ्ग 'गुणीभूत व्यंग्य' के मम्मट सम्मत दो रूप हैं, (१) अपर रसादि का अंग अथवा रस, (२) वाच्यार्थी भूत (प्रधान) वाच्य के प्रति अनुकरण रूप व्यंग्य की अंगता।

इनमें से प्रथम रूप के निम्नलिखित सात प्रकार हो सकते हैं —

१—किसी अंगीभूत रस अथवा भाव के प्रति रस की अंगता।

२—अंगीभूत भाव के प्रति भाव अथवा रस की अंगता।

१ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ ३०२

२ काव्यप्रकाश की बाल योधिनी टीका, पृष्ठ २०१। टीकाकार वामन भलकीकर ने अनेक टीकाकारों के मतों का उल्लेख करके सिद्ध कर दिया है कि मम्मट को 'रसवदादि' का अलकारत्व मान्य नहीं है।

३ काव्यप्रकाश, पृष्ठ ४-५

३—अगीभूत भाव के प्रति रसाभास और भावाभास की भगता ।

४—अगीभूत भाव के प्रति भावशांति की भगता ।

५—अगीभूत भाव के प्रति भावोदय की भगता ।

६—अगीभूत भाव के प्रति भाव सन्धि की भगता ।

७—अगीभूत भाव के प्रति भाव शबलता की भगता ।

१—किसी अगीभूत रस अथवा भाव के प्रति रस की भगता का उदाहरण ।

‘सपनो है ससार यह रहत न जान कोइ ।

मन मिलि पिय भावति करी काल्हि कहा रौं होइ ।

२—यहाँ शांत रस शृङ्गार का भग है । मानिनी नायिका से नायक अथवा दूती की उक्ति है । अपराग के इसी रूप का भग्य उदाहरण —

हाथ यहै भीड़त कुचनि, मन मुदरो उजियार ।

यह रसना गुन कचुकी नीबी-खोलन हार ॥

इसमें शृङ्गार रस कहण रस का भग होकर चित्रित है । यह का प प्रकाश के रसवत के उदाहरण का अनुवाद है । अगीभूत रस के प्रति भग्य रस की भगता के कुछ भग्य उदाहरण —

३—अदुभूत रसवत् प्रलकार का वणन —

जाहि बाबानल पान निचे तें खड़ी हिय में सरखी सरदेसो ।

बास प्रधासुर जोर हरयो जु सरयो बतसासुर से बरदेसों ॥

बूझत राखि लियो गिरि ल धृज देश पुरंदर बेबरवे सों ।

ईस हमें पर दे परदेसों मिलौ उडि ता हरि सों परदेसो ॥

यह छंद किसी विरहिणी की उक्ति है । छंद की प्रथम तीन पक्तियों में हरि के विस्मयकारी वाय-कलाप का उल्लेख होने से अदुभूत रस की व्यंजना होती है । पर तु विरहिणी का मतव्य हरि के अदुभूत स्वरूप की व्यंजना कराना नहीं है अपितु वह उस लोक विस्मयकारी अदुभूत पुरप से परदेस में गुप्त रूप से मिलने के लिये यत्र है । यहा अदुभूत रस शृङ्गार का भग है ।

४—भयानक रसवत का उदाहरण—

भूखो भिर भ्रमजाल में जीव के हवाल की खाल में फूट्यो फिर है ।

भूत सु पांच लगे भजवत है सांच धवत है नाथ नचहे ॥

कान मे भानुरेदास कहीं कों नहीं तो तहाँ मनही पधितहैं ।

काम के तेज निकाम तप बिन राम जपें विसराम न पढ़ें ॥

इस छंद की प्रथम दो पक्तियों और चौथी पाँची पक्ति में ससार के भ्रम-जाल में जीव का बधना और पांचभौतिक शरीर में उसको आस्था आदि का उल्लेख करके ससार के प्रति भग्य जाग्रत किया गया है । तीसरी पक्ति एवं चौथी पक्ति के बिना राम जपें विसराम न पढ़ें से शांत रस की व्यंजना है । यहाँ पर शांत ही प्रधान है और भयानक रस उसका भग है । इस अपराग का एक रूप और है—भाव के प्रति रस की भगता उसका उदाहरण यह है ।

कासो मैं बासु कर सुमिर गिय को शिषलोकनि ऊपर जहे ।

भूल हूँ जो चितहै इत जम भाजत ॥ कहैं औरन पहे ॥

काल की काल सरूप सखें जम को जम है हमे जोति न लहे ।

प्रान पयान सम निहच भव जु भवतारक तारक देहें ॥

प्रेयस्वत् प्रलंकार भी 'भगवांश' गुणीभूत व्यंग्य का भेद है। इसके भी दो रूप सम्भव हैं ? भगीभूत रस के प्रति भाव की भगता और भगीभूत भाव के प्रति भाव की भगता। इसमें प्रथम भेद असमोचीन एवं अव्यावहारिक है। कारण भगीभूत रस के प्रविरोधी भाव उसके परिपाक में सहायक होकर भग होते हैं। रीदरस में गवभाव सवदा सचारी के रूप में भग बनकर रहता है। रस की परिपक्वतावस्था में उत्तम बाल्य होगा। भगीभूत रस के विरोधी भाव उसके परिपाक में बाधक होंगे, यथा शृङ्गार में जुगुप्सा। फलतः इसका द्वितीय रूप ही व्यावहारिक है।

जो प जाइ रहै मेव मदर की कहर तो,

येऊ राखि सक न सुनत वाक नाम के।

लोकांतोक्त सगु लगु लागन न पाव कहूँ,

बैई पाइ यहियँ पहार छोरि मान के।

होहि जो असच्छि तो न देव कोउ अछु,

नेक होत हो समच्छ ह्व है धन के न धामके,

फेरत है अछु बिन नीर जैसे मछ,

जैसे धन बन गाहत बिपच्छ फिर रामके ॥

यहा बरियों की चित्ता राजरति भाव ध्वनि का भग है —

इसी का दूसरा उदाहरण यह है —

बीह बरीभत बेहव बारिब बागवनी औ नदी नद नारे।

भूपन के दल भारे धरे घरकी न घरा धीम तेरे करारे ॥

मैं विसम बसते बहुधा घर बानीन के गुन गाथ पसारे।

तोसी नरेश फलेश की बाहुँ करी मन मे पुनि बँन निबारे ॥

यहा पर कवि की भूमि विषयक प्रीति आश्रयदाता विषयक प्रीति का भग है।

ऊर्जस्वि में दो रूप हो सकते हैं। रसाभास भाव का भग और भावाभास भाव का भग।

प्रथम रूप का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है —

इक चुमत इक गहत इक घाँसगत भरि बाँह।

तुब बेरनि की घाम बन भ्रमत फिरत बिन नाँह ॥

उपयुक्त दोहे में एक ही शत्रुनारी के प्रति अनेक जेठा सनिकों का चुम्बन और घाँसगत आदि वर्णित है। यह शृङ्गारभास है जो राजविषयक रतिभाव का भग है। विषय की दृष्टि से उदाहरण मम्मट सम्मत है। मम्मट के उदाहरण में आश्रय दाता राजा के सनिक राजा के पराजित शत्रु के सामने उसकी नारियों के प्रति विभिन्न काम चेष्टाओं का प्रदर्शन करते हैं।

इसी का दूसरा उदाहरण भी अवलोकनीय है।

३—बारिब बिबारिब की प्रभु के प्रयास तो,

हमारे यहाँ अनगन बारिब की खान है।

अध की सिकारी औ है बजीरे तिहारी तो हो,

तन मन पूरन अधनि राख्यो ठानि है।

बास निज सपति सुसाहिब के काज आए,
होत हरयित पूरो भाग जनमानि है।
प्रापनी बिपत्ति को हजुर हो करत सखि,
रावरे की बिपत्ति बिदारन की यानि है।

यह किसी भक्त की अपने दृष्ट देव व प्रति उक्ति है। वह कहता है 'हे देव यदि आप को नष्ट करने के लिए दारिद्र्य की आवश्यकता है तो मेरे पास दारिद्र्य का भण्डार है, और यदि आपकी दृष्टि 'पाप' का शिकार करना चाहती है तो मैंने पापों से अपना तन मन पूरा कर रखा है। मेरा तो यह बड़ा सोम्यम्य और हृदय का भण्डार होगा कि मेरी कोई भी सम्पत्ति मेरे स्वामी के काम आवे। मैं तो वास्तव में आपकी बिपत्ति विदारण की प्रवृत्ति देख कर ही बिपत्तियों को एकत्र किये रहता हूँ।'

भक्त अपने दृष्टदेव की यह कहकर कि मैं दारिद्र्य, पाप और सकटों से घिरा हुआ हूँ अपनी दीनता को प्रकट कर रहा है, परन्तु बचन पद्धति से यह जान पड़ता है मानो वह अपना सबस्व अपने प्रभु की इच्छा की पूर्ति व लिए देने को प्रस्तुत है। भक्त का दान देने में उत्साह दिखाना दानवीर का रसाभास है, यह उसकी दीनता का भङ्ग है। यहाँ रसाभास भाव का भङ्ग है।

ऊजस्वि के दूसरे रूप में भावाभास भाव के भङ्ग होते हैं। इसका उदाहरण यह है

रामसिंह कर लग्न सखि अरिगन अधिक्त अधीर।
सजत सार सजत नहीं सूर धीर हृद नीर ॥

धूरो का अधीर होना हृद से नीर बहाना 'श्रास' नामक भावाभास है जो यहाँ पर राज विषयक रतिभाव का भङ्ग है।

ऊजस्वि का दूसरा उदाहरण यह है

सहज तिकार बहें महाराज रामचन्द्र
प्रलं धीर पा से निसान गरजत हैं।
बहै परताप मुनि तिनक कठोर धीर
जोर बिगपासन के हिये तरजत हैं।
मिले एक ठोर उपदेश येक येकन की
कोत्रियो न भर एक एक गरजत हैं।
रावरे सरासन के प्रासन सा सूर धीर
हृद के नीर गये नद से रचत हैं।

आश्रयदाता की धीरता की प्रशंसा है। राजरति प्रधान भाव है। शत्रु-पक्ष के धूर्तवीरो का नेत्रों से नीर बहाना चिन्ता श्रास आदि भावाभास हैं। ये राजरति के भङ्ग हैं। उदाहरण सक्षण सम्मत है।

समाहित मे भाव के प्रति भाव शक्ति की भङ्गता रहती है।

इसका उदाहरण यह है

गरजि गरजि डरपावत पातक मदहि बढ़ाई।
जात न जाने कित गये देखत कसोराइ ॥

उपर्युक्त दोहे में देव विषयक रतिभाव के प्रति पातको के गव भाव की शान्ति की भङ्गता है

इसका दूसरा उदाहरण यह है

पोत पपरत गाजे दुहुभी अनेक बाजे
सुभट समाज सार्जे तानी सेज घाइ क ।
अम्बर गरद मटे वंदी बिरदनि पड़े
हाड़ी करलनि रङ्ग चढ़े घोष घाइ क ॥
आगे नेजबाजनि आराव की आबाजनि सो
सिप की मराजनि गरुर भरे भाइ कं ।
फतेपति साह तेरे सामुहें समर भरिन की
कीरति होति जती के सुभाइ कं ॥

फतेहशाह की सुश्रवस्थित सेना ने सम्मुख उसके शत्रुओं के सभी उत्साह शान्त हो जाते हैं। आश्रयदाता विषयक कवि की प्रीति भङ्गीभूत भाव है। शत्रुओं की उत्साह-शान्ति उसका भङ्ग है। भाव के प्रति भावोदय की भङ्गता का उदाहरण

अरिगन निछु मंदिर रसत युवतिन सय सुभाइ
रामकृष्ण ललि बिनहैं उठत पिरत महराइ ॥

प्रस्तुत दोहे में राजा विषयक रति के प्रति शत्रुओं के 'वास' भाव के उदय की भङ्गता का चित्रण है। इसपर काव्यप्रकाश के तत्सम्बन्धी उदाहरण की छाया है।

इसका एक अन्य उदाहरण यह है

साह फते सुनिये बसुधाधिप,
धरिन के बर की अधिकाई ।
साजि समाज जसूस यजेज भरें
चरचा चहुँपों की चलाई ॥
भावेगी साह फते करि दक्षिधम
काह करी सुलतान बडाई ।
बाक बिचार सक कहि को धम
तेरे ममची उयो सी भयाई ॥

यहाँ पर कवि-गत आश्रयदाता राजा की प्रीति भङ्गीभूत भाव है। शत्रुओं में वास भयवा भावेग भाव का उदय उस राजा विषयक भङ्गीभूत प्रीतिभाव का भङ्ग है। यहा भावोदय भलकार है।

भाव के प्रति भाव सचि की भङ्गता, यथा

रामसिंह दुहुभि सुनत खलमल बरनि धाम ।
पिय मिलिबो अरु भाजिबो करी विकस अतिवाम ॥

प्रस्तुत दोहे में राजविषयक रति के प्रति शत्रुओं की नारियों के प्रियमिलन के प्रति प्रीतिभूत भाव और आश्रयदाता के कारण 'वास भाव' की सचि की भङ्गता का उल्लेख है।

इसका दूसरा उदाहरण यह है

कुसुमों कोमल कलेबर छुबरि गौरि तप सों
कठोर जामे थाबरो पकत हैं ।

देखत बयास कै दुखियत दोन बधुहर में—
हो दास तेरो बहिये को उचरत है ॥

ऊचते विपुष ते मधुर मधु दाप हूँ ते
सुबनीन भरमबस रस है छकत हैं ।

आइकें उतावरे गिरिण गिरिजा के ठिग
सहो न सकत बधु कहयो सजत है ॥

विविक्त देवी गिरिजा विषयक शक्ति-प्रद्वारा प्रकृतिभूत भाव है । इसमें प्रकृतता और शोभा की सघि प्रकृति है । उदाहरण शास्त्र सम्मत है ।

भाव के प्रति भाव सबलता की प्रकृति

पुलकित मन सब झलक डग धावन उमन अपार ।
भक्तन के उर होत हैं, सुमिरत नन्द कुमार ॥

प्रस्तुत दोहे में देव विषयक शक्ति-प्रकृति भक्तों की भाव सबलता प्रकृति रूप में चित्रित

प्रपञ्च के दूसरे रूप में वाक्यार्थभूत - वाक्य के प्रति सलक्षणमव्यय भी प्रकृत

सकता है । इसका उदाहरण यह है

राति मिलै कितहू बिरह बिकल कया-

बरसन करत प्रभात ही पावन सरिस पतवै रग ।

प्रस्तुत दोहे में बिरह कमलिनी पावन आदि शक्ति-प्रवृत्तिसह हैं । इनके प्रकृतता के लक्षित प्रति व्यवहार की अभिव्यक्ति हो रही वा । परन्तु 'सरिस' प्रयोग से प्रतीत होत नावक का उपमेयोपमान भाव वाक्य हो गया । यही वाक्य प्रकृतिभूत

उपपुलक शब्द शक्तमूल सलक्षणमव्यय इसी वाक्य का प्रकृति हो गया । यह प्रपञ्च रूप का उदाहरण है । दोहे पर काव्यप्रकाश की ध्याया है ।

वाक्य सिध्यग ।

काव्य में जहाँ व्यंग्य वाक्यार्थभूत वाक्याध को सिद्धि में योगदान करके प्रप्रधानता स्थिति में स्थित रहता है यहाँ वाक्यासिध्यग गुणीभूतव्यंग्य होता है ।

भगवत् ने वाक्यासिध्यग गुणीभूत के दो उदाहरण दिये हैं और उसके एक वक्तव्य में निम्न वक्तव्यगत दो शब्द स्वीकार किये हैं ।^१ इनमें एक निम्नता और प्रतीत होती है जिसका काव्यिक मूल व्यंग्य ।

१ एतच्चैक वक्तव्यगतत्वेन अपरत्र निम्न वक्तव्यगतत्वेनैतदनयोर्भेदः ।

मम्मट का उदाहरण इस प्रकार है।

अनिमरति मल सङ्ख्यवर्ता प्रसन्न मुच्छन्निम शरीरसदम् ।

मरण च जलदभुजगज प्रसन्न कुक्षे विष विषोषिनीनाम् ।

‘मध रही भुजा से उत्पन्न विष बलपूर्वक विषोषिणीना को भ्रमि, अनि, प्रसन्न, यना, य प्रकार शरीर दुबलता और मरण भी उत्पन्न करता है।’ वक्ता कवि मेष को भुजग सिद्ध करना चाहता है। उसके मतम्य को सिद्धि जल और हालाहल का मध देने वाला विष सा द करता है। विष मेष के सम्बन्ध में जल के मध में नियंत्रित हो जाय पर जलद म मधम में हालाहल का मध भी देता है। इस उदाहरण में, जलद भुजग या रूपकत्व द्वारा मध विष पद के प्रयोग द्वारा सम्भव बनता है, मम्मट ने इस उदाहरण की छाया दास ने निम्नलिखित उदाहरण में है।

बरपाताल न साल गह गोन करो केहि रेनु ।

ध्याल बलाहक बिष बरसि, बिरहिनि को जिय सेनु ॥

यह एक वक्तव्य वाच्यसिध्यग गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है। यह किसी व्यंग्यवाचिका को सन्या समय प्राप्ति के प्रति उक्ति है। वह कहती है कि इस समय वषा काल है, पति घर में नहा है प्राय भी जान के हठुज जान पड़ते हैं, मध रपी सप विष की वर्षा करके बिरहिलियों के प्राणा के प्राहक हो रहे हैं। मम्मट ने उदाहरण की भाँति यहाँ पर भी ‘विष’ द्वयध्व पद है।

इसका दूसरा उदाहरण यह है

धवन्न बाहिनी मग उर घालुकि ससत नयोन ।

शिष संग सोहे सवरा शिवा कि राय प्रवीन ॥

उदाहरण में यदि शिष पावती पद का उल्लेख न होता तो ‘राय प्रवीन’ की समानता पावती से व्यप्य होती। परन्तु शिष के उल्लेख से वाच्यार्थ मुख्य है वषा और व्यप्य उसकी सिद्धि का अंग बन गया।

एक वक्तव्य वाच्यसिध्यग गुणीभूत व्यंग्य का एक अन्य उदाहरण।

जीवन गोपन जेट को, प्रपन के विषु वीर ।

उयो प्रपानी मग कहा, उपकार को मीर ॥

नायिका की अवतरण सखी वक्ता है। नायिका का सम्पन्न जेट में है। मगरी पति प्रागमन की सूचना न रही है कि विषु वीर उक्ति द्वारा। इस वाच्य की सिद्धि में ‘जीवन गोपन जेट को’ का व्यप्यार्थ कि मग जेट को वट्ट हो गया इसका सिद्धि में सहायक है।

मित्र वक्तव्य वाच्यसिध्यग का उदाहरण—

तरे देखिबे को मेरो साल तरपन,

महास्य रन बांधो ताको नून उमरनि है ।

यह मुनि बास जोनी ऊतर को देन सामी,

पाद परी सामु बान बन निवहनि है ॥

रखी जो कहति तो तो नेह न ररत
अरु नेह के कहे जे सासु डाटति कहति है ।
सेनापति याते निठुराई ते कहत,
बलिहार करौ ताहि जाहि साल तू कहति है ॥

न यिका के पास दूती नायक का सन्देश लेकर पहुँची है उसने साल का सन्देश देना प्रारम्भ किया था कि नायिका को सास पहुँच गई। उसकी उपस्थिति में नायिका सीधा वाच्यापारक उत्तर न दे सकी उसने 'यय' का सहारा लिया। उसके कथन का साल पद द्वययक है। उसका व्यय वाच्यापारक का पोषक है।

अस्फुट

ध्वन्यालोककार ने अस्फुट व्यय के सम्बन्ध में लिखा था जहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रक्षिप्तता अथवा अगता से प्रतीत होता है उसका ध्वनि में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। वह अस्फुट गुणीभूत व्यय का विषय है। "दो प्रकार के प्रतीयमान स्फुट और अस्फुट—म जो स्फुट प्रतीयमान शब्दशक्ति अथवा अर्थ शक्ति से प्रकट होता है वही ध्वनि है अर्थ नहीं।"

यय की सत्ता तो है पर तु उसकी प्रतीति सरलता से नहीं होती है उसका काव्यप्रकाश बार ने भी गुणीभूत व्यय में सम्मिलित किया है और ध्वन्यालोक के उपयुक्त प्रसङ्ग के अनुसार ही उसका नाम है अस्फुट का उदाहरण यह है —

अस्फुट का उदाहरण यह है ।

अगन साजि सिंगार सब निज मंदिर त पिय-पास सिधारी ।
कष इनूर निहारत भूपर कामकला छवि उपर भारी ।
मकुल सो न हंस बिहंस हुलस बिसस सुख गुजन प्यारी ।
बाहि गहे भयो धन रोमांचित कपित गात ससकित भारी ।

नायिका अभिसारिका है। स्वयं कामोत्सुका होकर प्रिय से मिलने के लिए सट्ट गई है। स्वतः जाने से मुग्धा नहीं है, तब कपित और सशक्त होने का विशेष कारण दिखाई नहीं पड़ता चिन्तनोपरांत किसविधित हाव व्यय होता है।

संदिग्ध प्राधाय विवेचन—गुणीभूत व्यय में काव्यात्मा ध्वनि गीत हो जाता है। उसकी गीतता के कारण ही उसकी गणना मध्यमकाव्य में की जाती है। संदिग्ध प्राधाय नामक मध्यम काव्य में न तो व्यय ही पूरा गीतता प्राप्त कर पाता है और न वाच्य ही निश्चित प्रधानता प्राप्त करता है, और न दोनों की प्रधानता यही निश्चित रूप से समान हो पाती है। इस भेद में और तुल्य प्राधाय में केवल यही अंतर है कि इसमें व्यय और वाच्य की तुल्य प्रधानता का निश्चय नहीं हो पाता, जबकि दूसरे (तुल्यप्राधाय) में तुल्य प्रधानता का निश्चय होता है। दो व्ययार्थों की प्रधानता में सन्देह का प्रश्न यहाँ उपस्थित नहीं होता है।

इसका उदाहरण यह है

१—यत्र प्रतीयमानोऽर्थ प्रक्षिप्तत्वेन भासते ।

वाच्यस्याह गतया वापि नास्या सौ गोचरो ध्वने । ध्व० २ ३२

सतत हसत से बोह हय बिहसत बिमल कपोल ।
चर मुखी मुख चंद सखि, नंद नदन चित सौल ॥

नायिका नायक के समक्ष उपस्थित है । उसके सुंदर और प्रसन्न चंद्र मुख को देखने भर के लिए नायक का चित्त चंचल है । यह वाच्यार्थ प्रधान है अथवा उस चंद्रमुख का सुग्गन करने के लिए चंचल है यह व्यंग्यार्थ प्रधान है इसमें सन्देह है । दोह पर वाक्य प्रकाश की छाया है ।

तुल्यप्राधाय गुणीभूत व्यंग्य

तुल्य प्राधाय नामक गुणीभूत व्यंग्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की निश्चित समानता होती है, इसीलिये इसे तुल्यप्राधाय नाम दिया गया है । उदाहरण प्राधाय और तुल्य प्राधाय में यही अंतर है ।

तुल्य प्राधाय गुणीभूत का उदाहरण यह है

भले रूप गुन जाल को ह्यात पसरत साल ?
खजम ननिनि के बंधत हय-खजन इहि हाल ॥

कवि हृष्टा अथवा दुःखी की उक्ति है । 'भाषके हृदयग्राही रूप को देखकर परम सुंदरी नारियाँ भी मुग्ध हो जाती हैं । इस व्यंग्यार्थ की भी उतनी ही प्रधानता है जितनी वाच्यार्थ की । इस दोहे का वाच्यार्थ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । यह तुल्य प्राधाय गुणीभूत व्यंग्य का शास्त्रा नुकूल उदाहरण है ।

गुणीभूत व्यंग्य का साक्षिप्त व्यंग्य और वाक्य ध्वनि का अंतर ।

व्यंग्य साक्षिप्त ही होता है । का साक्षिप्त व्यंग्य में कण्ठध्वनि (काकु) से भङ्गि विनये से कहने पर व्यंग्य का तुरंत बोध होता है । उत्तम वाक्य में कान्धक्षिप्त व्यंग्य का समावेश होता है और मध्यम वाक्य में भी । तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वहाँ कौन सा कान्धक्षिप्त व्यंग्य है जिसके समावेश से वाक्य उत्तम कोटि में परिणित होता है और वह कौन सा है जिसके समावेश से मध्यम कोटि में । दोनों व्यंग्या की साक्षिप्तता में क्या अंतर है ? जहाँ प्रश्न मान से ही कान्धक्षिप्त व्यंग्य की प्रतीति होती है वहाँ काकु की प्रधानता होती है वहाँ उत्तम का माना जाता है ।^१ जहाँ सन्देह सखि हो काकु की सहायता से व्यंग्य बोधन में समर्थ होता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है । इसका उदाहरण यह है

प्रेमरस पूरन विपूर्वाहि पछलि कहीं गु
जोग ज्वाल भलि झलवेसीपन चाहेंगी ।
सौभवाय तिहें कसे भावत विभूति जटा
जिनकी गुविद मिलि सेली मन चाहेंगी ।
वरन की माता लं विछाई मृगछाया साधि
प्रानापाम त्रिजुटी सहेली तन चाहेंगी ।
सेली हूँ तिहारी हम ऊपों कहा सेली डारी
कपन की बेली-सी प्रकैली बन चाहेंगी ।

अमुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य

अमुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य में वाच्याय व्यङ्ग्य की प्रधानता और उद्देश्यरयुक्त जाना है । व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्याय चमत्कारयुक्त होने पर भी अमुन्दर होने के कारण ही वाच्यत्व इसके अमुन्दर नाम दिया गया है ।

मुप विपरी द्धे हरी हरी डार कर सीन ।

सेति उसासनि सांस अति सिथिल अम मनु सीन ।

नायक पूर्व निश्चयानुसार सहेठ पर पहुँचा तो नायिका न मिली । वह उस कुञ्ज की एक हरी डाली तोड़कर नायिका के घर पहुँचा । नायक को हरी डाल गहिन देखकर नायिका को मुप पीला पड़ गया । मने वचन भग किया अथवा मैं सहेठ पर पूर्व निश्चय के अनुसार न पहुँचो यह व्यङ्ग्य है । अमुन्दर का यह मगल उदाहरण है । इस पर काव्य प्रयोग के उदाहरण भी छाया है ।



